भारत का विभाजन विश्व इतिहास की सबसे विनाशकारी घटनाओं में से एक है। अगस्त, 1947 में भारत और पाकिस्तान में सत्ता का हस्तांतरण ब्रिटेन द्वारा उपनिवेशवाद को खत्म करने की दिशा में पहला महत्वपूर्ण कदम था, जिसके साथ उसकी अंतरराष्ट्रीय शक्ति के दूरगामी परिणाम जुड़े थे। इस पुस्तक में बताया गया है कि कैसे और क्यों ब्रिटिश स्वार्थ और भारतीय दलों के राजनीतिक मतभेदों ने मिलकर 15 अगस्त, 1947 में ब्रिटिश भारत का विभाजन कराया, जिसका आधार दिखावे भर के लिए ही धार्मिक था।

अनिता इंदर सिंह ने दिल्ली विश्वविद्यालय से एम.ए. जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से एम.फिल और ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी से डी.फिल. की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने दिल्ली और ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में इतिहास और अंतरराष्ट्रीय संबंध का अध्यापन कार्य किया। प्रमुख इंटरनेशनल जर्नल्स में प्रकाशित लेखिका की प्रमुख कृतियों में *दी ओरिजिन्स ऑफ दि पार्टीशन ऑफ इंडिया, 1936-1947* तथा *दि लिमिट्स ऑफ ब्रिटिश इंफ्लूएंस : साउथ एशिया एंग्लो-अमेरिकन रिलेशनशिप, 1947-56* आदि सम्मिलित हैं।

जगदीश चंद्रिकेश : एम.ए., पी-एच.डी.; संस्कृति मंत्रालय के सीनियर फैलो। *वैदिककालीन रूपंकर कलाएं, बंगाल शैली की चित्रकला, हिमालय की आत्मा का चितेरा-निकोलाई रोरिक* व *चित्रकार रवि वर्मा* आदि मानक कृतियों सहित बहु-आयामी लेखन; गुजराती व अंग्रेजी से अनेक कृतियों का अनुवाद।

रु. 35.00 ISBN 978- 81-237-5021-7

एकः सूते सकलम्

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

Library IIAS, Shimla
H 954.04 Si 64 B
00127064

भारत का विभाजन

अनिता इंदर सिंह

H
954.04
Si 64 B

H
954.04
Si64B

अनुवाद : जगदीश चंद्रिकेश

INDIAN INSTITUTE
OF
ADVANCED STUDY
LIBRARY, SHIMLA

भारत का विभाजन

इन्दराज
Entered

39

भारत का विभाजन

अनिता इंदर सिंह

अनुवाद

जगदीश चंद्रिकेश

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

Library IIAS, Shimla
H 954.04 Si 64 B
00127064

INDIAN INSTITUTE ... SIMLA
Acc. No. 127064
23-3-09

H
954.04
Si 64 B

ISBN 978-81-237-5021-7

पहला संस्करण : 2007 *(शक 1929)*

पहली आवृत्ति : 2008 *(शक 1929)*

मूल © अनिता इंदर सिंह

अनुवाद © नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

Bharat ka Vibhajan *(Hindi)*

रु. 35.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया
ए-5 ग्रीन पार्क, नई दिल्ली-110 016 द्वारा प्रकाशित

अनुक्रम

1. विभाजन : अंतरराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में — 1
2. भारत का विभाजन : प्रश्नों के घेरे में — 5
3. विभाजन की पृष्ठभूमि : भारत में सांप्रदायिक समस्या — 9
4. सन् 1937 के चुनाव, कांग्रेस सत्ता में, और मुस्लिम लीग सत्ता विहीन — 16
5. भारत और विश्वयुद्ध : 1939-41 'पाकिस्तान' का राजनीतिक एजेंडे में आना — 24
6. मुस्लिम लीग ने बढ़त ली : 1942-45 — 33
7. मुस्लिम लीग का उत्थान : शिमला कांफ्रेंस से सन् 1945-46 के चुनावों तक — 43
8. कैबिनेट मिशन प्लान : 1946 — 52
9. अंतरिम सरकार, लीग की सीधी कार्रवाई और 1946 की वेवेल योजना की विफलता — 61
10. विभाजन की पूर्व-पीठिका : नवंबर, 1946 से फरवरी, 1947 तक — 69
11. विभाजित करो और जाओ — 76
12. उपसंहार — 84

1

विभाजन : अंतरराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में

सन् 1947 में हुआ ब्रिटिश भारत का विभाजन विश्व इतिहास की सबसे विनाशकारी घटनाओं में से एक है, और इस पर बहसों का कोई अंत नहीं है। भारत का यह विभाजन अठारहवीं सदी में यूरोप, एशिया, अफ्रीका और मध्य-पूर्व में किए गए अनेक विभाजनों में से एक है। प्रायः अधिकांश विभाजनों में जिस तरह विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच जितनी हिंसा हुई, उससे कहीं अधिक हिंसा इस विभाजन में हुई। इसमें किसी अन्य विभाजन की अपेक्षा कहीं अधिक लोग हताहत हुए थे। पता नहीं, कितने लोग मारे गए, विस्थापित हुए और एक स्थान से दूसरे पर जबरन भेजे गए। अनुमान है कि दो लाख से लेकर तीस लाख तक की संख्या के बीच लोगों ने अपनी जानें गवाईं। सन् 1946 से 1951 के बीच अनुमानतः 90 लाख हिंदू और सिख पाकिस्तान से भारत आए तथा लगभग 60 लाख मुसलमान भारत से पाकिस्तान गए।

साम्राज्यशाही ब्रिटेन द्वारा किया गया भारत का यह विभाजन उसके द्वारा किए गए चार विभाजनों में से एक है। उसने आयरलैंड, फिलिस्तीन और साइप्रस के भी विभाजन कराए। उसने इन विभाजनों का कारण यह बताया कि अलग-अलग समुदायों के लोग एक साथ मिलकर नहीं रह सकते। जबकि इन विभाजनों के पीछे केवल धार्मिक और नस्ली कारण नहीं थे, बल्कि ब्रिटेन के सामरिक और राजनीतिक हित भी शामिल थे, जिनके आधार पर समझौतों के समय उसने अपनी रणनीति बनाई और चालें चलकर विभाजन कराए। दरअसल, ब्रिटेन की इन्हीं चालों की वजह से ये चारों विभाजन हुए।

इससे पहले अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में यूरोप की महाशक्तियों

की पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता के परिणामस्वरूप अफ्रीका में विभाजन हुआ और पोलैंड में तीन विभाजन हुए। सन् 1991 में शीत युद्ध की समाप्ति के बाद यूगोस्लाविया में कई विभाजन हुए। इन विभाजनों में यूगोस्लाविया से विभाजित होकर बोस्निया एक नए राज्य के रूप में उभरा। बोस्निया, जो एक गणतांत्रिक देश बना, उसमें सर्ब, क्रोट और मुस्लिम तीनों ही अल्पसंख्यक थे। इनमें भी विभाजन हुए और सर्बिया और क्रोशिया अलग-अलग राज्य बने, जिनकी अंतरराष्ट्रीय सीमाएं युद्ध द्वारा निर्धारित हुईं। सन् 2006 में, अब यह अनुमान लगाया जा रहा है कि मुसलमानों और सर्बों के बीच क्या कोसोवो का विभाजन होगा या कोसोवो सर्बिया का ही हिस्सा बना रहेगा।

विभाजनों को लेकर चलने वाली बहसों का कभी अंत होने वाला नहीं है। अलग-अलग समुदायों के लोगों का, जहां साथ-साथ रह पाना संभव न हो, वहां उस क्षेत्र का बंटवारा कर उन्हें अलग-अलग बसा देने से क्या समस्या का समाधान हो सकता है? विभाजन के पक्षधरों का कहना है कि परस्पर विरोधी संघर्षरत पक्षों को विभाजन के मुद्दे पर ही समझौते की मेज पर लाया जा सकता है और संघर्ष को समाप्त कर लोगों की जान बचाई जा सकती है। परस्पर शत्रुतापूर्ण समुदायों को इस बात की आजादी देने पर ही कि वे साथ-साथ मिलकर न रहें, हिंसा को रोका जा सकता है। मतलब यह कि विभाजन द्वारा ही हिंसा को रोकना संभव है। निष्पक्ष मध्यस्थ ही इस तरह दोनों पक्षों को न्याय दिला सकते हैं। नस्ली या राज्यक्षेत्रीय आधार पर देश का विभाजन दोनों पक्षों को एक राजनीतिक अस्तित्व तथा नस्ली समरूपता दे सकता है। अतः विभाजन ही संघर्ष को रोकने का एकमात्र उपाय है।

विभाजनों के पीछे की सचाई फिर भी एक-दूसरे से अलग है। दरअसल, विभाजन की मांग तभी की जा सकती है जब कम-से-कम दो नस्ली समुदाय किसी राज्यक्षेत्र विशेष पर अधिकार के लिए सशस्त्र संघर्ष में उतर आएं। एकमात्र एक ही विभाजन ऐसा हुआ है जिसमें हिंसा नहीं हुई, और यह था चेकोस्लोवाकिया का, जो सन् 1992 में हुआ।

विभाजनों से कभी किसी ऐसे देश की स्थापना नहीं हो सकी जहां राज्यक्षेत्रीय, नस्ल या धर्म के सामंजस्य की दृष्टि से एक ही नस्ल के लोग रहें। बोस्निया जो सर्ब, क्रोट और मुस्लिम अल्पसंख्यकों वाला गणतंत्र है, किस तरह एक राष्ट्र-राज्य हो सकता है? सन् 1947 के विभाजन के समय ब्रिटिश

पंजाब एक मिलाजुला क्षेत्र था जिसमें हिंदू, मुसलमान और सिख सभी समूचे पंजाब में फैले हुए थे। मुसलमानों ने भारतीय उप-महाद्वीप का विभाजन कर अपने लिए मुस्लिम गृहराज्य बनवाया, लेकिन उनकी संख्या आज भारत में पाकिस्तान से अधिक है। वैसे भी, सभी विभाजनों में विभाजन के बाद अंतरराष्ट्रीय सीमा पार के दोनों क्षेत्रों में मिली-जुली आवादी ही रहती रही है।

विभिन्न राज्यों के बीच लंबे समय से चले आ रहे संघर्षों के कारण विभाजन होते हैं। सन् 1947 में ब्रिटिश शासित भारत के विभाजन ने—कश्मीर के मामले पर—पहला अंतरराष्ट्रीय संघर्ष पैदा किया जिसे संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद में लाया गया : इसके बाद फिलिस्तीन और साइप्रस का मामला भी सुरक्षा परिषद में पहुंचा। दरअसल, विभाजनों ने रिसते हुए घाव ही पैदा किए हैं, जिसका दूसरा उदाहरण है - उत्तरी आयरलैंड।

दुनिया भर के अधिकारी विभाजनों को इसलिए नापसंद करते रहे हैं क्योंकि अधिकांश विभाजन सीमाओं के बलात किए गए परिवर्तन सिद्ध हुए हैं और इनके कारण अनेक गंभीर मानवीय समस्याएं पैदा हुई हैं। विभाजनों से वे लोग भी निराश हुए हैं जो सोचते हैं कि जातीय विविधता से संपन्नता आती है और यह भी सोचते हैं कि जातीय संघर्षों का मूल कारण कट्टरपंथी और सत्तावादी विचारधारा है।

विभाजन—और अलगाव—प्रायः निरंकुश राज्यों के कारण होते हैं, क्योंकि निरंकुश शासक चाहे वे साम्राज्यशाही हों या गैर-साम्राज्यशाही, 'फूट डालो और राज करो' की नीति पर चलते हैं। निरंकुश शासक न तो जनमत में विश्वास करते हैं और न उस पर अमल करते हैं। सन् 1991 और 1992 के बीच यूगोस्लाविया के जो कई विभाजन हुए वे उसके अधिनायकवादी इतिहास के कारण हुए। ऐसा ही ब्रिटेन ने आयरलैंड, भारत और फिलिस्तीन में किया। इन तीनों को ही विरासत में जातीय घृणा और हिंसा मिली थी, और बाद में साइप्रस को भी।

जो लोग विभाजन की मांग करते हैं उनका यह विश्वास होता है कि विभिन्न जातियों और धार्मिक समुदाय के लोग मिल-जुलकर नहीं रह सकते। जबकि उनमें बौद्धिक या राजनीतिक मतभेद नहीं होते और ऐसे राष्ट्र व राज्य मिलकर ही रह रहे होते हैं, यदि ऐसा न हो तो जरूरत पड़ने पर उन्हें बलपूर्वक मिलाकर रखना चाहिए।

जितने भी विभाजन हुए हैं वे आंशिक रूप से राज्य-राष्ट्र की किसी विशेष विचारधारा से प्रेरित होकर हुए हैं। विभाजन की मांग करनेवाले लोग उस राज्यक्षेत्र विशेष को नस्ल, संस्कृति, भाषा या धर्म से जोड़ देते हैं, जिसमें विभिन्न समुदायों के लोग रहते हैं और इन विभिन्न समुदायों के बीच सशस्त्र संघर्ष पैदा कर दिया जाता है।

दुनिया भर के नब्बे प्रतिशत से अधिक राज्य बहुजातीय हैं। विभिन्न समुदायों को बसाने और उनके बीच तालमेल बैठाने के लिए राष्ट्र और राज्य को एक समन्वयकारी बहुलतावादी अवधारणा की आवश्यकता होती है, ताकि राज्य द्वारा सभी समुदायों के अस्तित्व और उनके हित सुरक्षित रहें। इसमें एक-दूसरे के प्रति आदर, सुरक्षा और वैयक्तिक मानवीय अधिकार शामिल होते हैं। इसे एक ऐसे लोकतांत्रिक राज्य द्वारा ही उपलब्ध कराया जा सकता है जो अपने आप को किसी एक समुदाय से जोड़कर न देखे। जातीय, धार्मिक या सास्कृतिक बहुमत राजनीतिक बहुमत से अलग होता है, क्योंकि राजनीतिक बहुमत में सभी समुदायों के नागरिकों का प्रतिनिधित्व हो सकता है।

धार्मिक, जातीय या सांस्कृतिक विभेदों और राज्य के कारण पैदा की गई जटिलताएं परस्पर गुंथकर ऐसी स्थितियां पैदा कर देती हैं जिनका परिणाम विभाजन ही होता है। इन्हीं कारणों से विश्व के विभिन्न भागों में विभाजन हुए हैं। इस पुस्तक में आगे बताया गया है कि कैसे और क्यों ब्रिटिश स्वार्थ और भारतीय दलों के राजनीतिक मतभेदों ने मिलकर 15 अगस्त, 1947 में ब्रिटिश भारत का विभाजन कराया, जिसका आधार दिखावे भर के लिए ही धार्मिक था।

2

भारत का विभाजन : प्रश्नों के घेरे में

भारत में सत्ता हस्तांतरण के लिए 1946-7 में जो समझौता वार्ताएं हुईं उनमें शामिल तीन पार्टियों में से मुस्लिम लीग विजयी रही। भारत के विभाजन के परिणामस्वरूप भारतीय उप-महाद्वीप में एक प्रभुसत्ता-संपन्न 'मुस्लिम' राज्य का उदय हुआ जो मुस्लिम संप्रदायवाद या 'पाकिस्तानी राष्ट्रवाद' की विजय का संकेत था। विभिन्न कारणों से कांग्रेस और ब्रिटेन के लिए यह विभाजन एक असफलता थी। यह विभाजन कांग्रेस के धर्मनिरपेक्ष भारतीय एकता के आदर्श के विरुद्ध था। और इस विभाजन ने ब्रिटेन की उन योजनाओं पर पानी फेर दिया था, जिनके तहत वह स्वयं को विश्व-शक्ति के रूप में, अविभाजित एवं स्वतंत्र भारत को अपना सैनिक अड्डा बनाना चाह रहा था। आधी सदी से अधिक समय बीत जाने के बाद आज भी, यह विभाजन निरंतर विमर्श का विषय वना हुआ है कि भारतीय उप-महाद्वीप का विभाजन क्यों और कैसे हुआ?

अधिकांश तर्क विभाजन के 'दोषारोपण' में हिस्सेदारी के इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं, विशेषकर भारत और ब्रिटेन के, जो विभाजन नहीं चाहते थे। भारत इस विभाजन के लिए ब्रिटेन की विभाजनकारी नीतियों को दोषी ठहराता है, तो भारत और ब्रिटेन दोनों ही नेहरू की विचारधारा के प्रति उनकी हठधर्मिता को दोषी मानते हैं, जिसने सन् 1937 और 1946 में मुस्लिम लीग को शामिल नहीं होने दिया। ब्रिटेन ने यह भी दावा किया कि विभाजन को रोकने के लिए उसने सभी संभव प्रयास किए, इसलिए विभाजन के लिए भारत की राजनीतिक पार्टियां ही 'जिम्मेदार' हैं।

सन् 1947 में हुए ब्रिटिश भारत के विभाजन से उठने वाले सवसे महत्वपूर्ण

सवाल हैं कि क्या यह विभाजन ब्रिटेन की 'फूट डालो और राज करो' नीति के तहत हिंदू और मुसलमानों के अलगाव का अपरिहार्य परिणाम था; और क्या कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के वीच समझौते की राह इतनी कठिन थी कि वह गृहयुद्ध को भी नहीं बचा सकी? क्या यह इसलिए कि इन दोनों के बीच राजनीतिक संवंध इतने दुरुह थे कि इनको सुलझाया नहीं जा सकता था? कांग्रेस विभाजन नहीं चाहती थी, तो फिर उसने मुस्लिम लीग के सामने ऐसे कौन से विकल्प रखे, जो उसके प्रभुसत्ता संपन्न पाकिस्तान के दावे को मात दे सकते थे?

पहले प्रश्न का उत्तर तो यह है कि मध्यकाल के दौरान सामाजिक रिश्तों के उपलब्ध साक्ष्य इतने अपर्याप्त हैं कि उनके आधार पर यह मालूम नहीं किया जा सकता कि भारतीय समाज में इन दोनों राष्ट्रों के परस्पर संबंध सहज थे या उनमें वैमनस्य था। यदि यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि भारत में हमेशा दो राष्ट्र रहे हैं, बल्कि केवल बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समुदाय ही रहे हैं तब यह धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय एक राष्ट्र कब वन गया? क्या मार्च, 1940 में एक प्रभुसत्ता-संपन्न राष्ट्र की मांग ने उस ऐतिहासिक राष्ट्र की आकांक्षाओं को व्यक्त कर दिया जो वर्षों से जन्म लेने के लिए छटपटा रहा था? इन सवसे वढ़कर जिन्ना ने अखिल भारतीय राजनीति में जो स्थान बनाया वह ब्रिटेन के हितों और उसकी चालों की वदौलत, या कांग्रेस की गलतियों के कारण हुआ, या फिर उन्हें जनता का समर्थन प्राप्त था?

जिन्ना ने एक प्रभुसत्ता-संपन्न पाकिस्तान की इच्छा की होगी। लेकिन जनता को कोई चीज उनके चाहने भर से तो नहीं मिल जाया करती, जब तक कि कोई उसे देने के लिए राजी न हो, या ऐसी मांग करने से उसे रोका न जा सकता हो। मार्च, 1940 में जिन्ना ने प्रभुसत्ता-संपन्न पाकिस्तान की मांग की थी। प्रयास करने और विकल्प पेश करने पर क्या जिन्ना इससे कुछ कम पर राजी हो सकते थे? यदि हां, तो किन शर्तों पर? यदि अंग्रेज और कांग्रेस दोनों ही विभाजन के खिलाफ थे तो वे जिन्ना को रोक क्यों नहीं सके?

भारत के विभाजन ने अवधारणा संबंधी भी अनेक समस्याएं पैदा की हैं। इन सभी पर 'सांप्रदायिक', 'अल्पसंख्यकों की समस्या', 'हिंदू-मुसलमान समस्या' का ठप्पा लगाया गया है और इन सब का इस्तेमाल धार्मिक पहचान बताने के लिए किया गया है। मैं 'हिंदू-मुस्लिम समस्या' शब्द का उपयोग, स्रोतों

को उद्धृत करने के अतिरिक्त, नहीं करती क्योंकि सन् 1946-7 तक ऐसे बहुत कम साक्ष्य मिलते हैं जिनसे यह पता चले कि दोनों समुदाय 'सभी' स्तरों पर एक-दूसरे से अलग हो गए थे। इस नाम का ठप्पा लगाए जाने के अनेक कारणों में से एक कारण यह है कि मुस्लिम लीग ने दावा किया था कि उसने सन् 1947 में भारतीय उपमहाद्वीप में मुसलमानों के लिए एक गृहराज्य की स्थापना कर ली। तो क्या भारत केवल हिंदुओं का गृहराज्य है? 'हिंदू-मुस्लिम समस्या' शब्द भी यह मानकर चलने को प्रवृत्त करता है कि हिंदू-मुसलमान दोनों का एक ही समजातीय अस्तित्व है : उनकी धार्मिक सहबद्धता ही सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक कारणों से उन्हें दूसरे समूहों से पृथक करती है।

एक तरह से यह सही भी है : एक आदमी हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई या और किसी समुदाय के नाम से अपना परिचय देता है। और ऐसा करने से वह कोई सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक समस्या भी पैदा नहीं करता। समस्या तो तब पैदा होती है जब संगठित होकर कोई धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक सजगता ग्रहण कर ली जाती है और वह भी प्रायः बिना किसी साक्ष्य के, तब फिर वह किसी समुदाय विशेष में राजनीतिक तथा किसी अन्य वैचारिक मतभिन्नता के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ता। इसके अनुसार कांग्रेसी हिंदू, महासभाई हिंदू, कम्युनिस्ट हिंदू और कांग्रेस विरोधी हिंदू नहीं हुआ करते, और न मुस्लिम लीग समर्थक या मुस्लिम लीग विरोधी मुसलमान। वस्तुतः, जैसाकि मुस्लिम लीग का दावा था, मुसलमान केवल वही था जो उसका समर्थन करता था।

एक समुदाय के अंदर धार्मिक अल्पसंख्यक या बहुसंख्यक के रूप में भी अंतर किया जा सकता है—जैसा कि जनगणना के आंकड़े बताते हैं—और एक राजनीतिक बहुसंख्या वह होती है जिसने राजनीतिक मंच पर अपने राजनीतिक कार्यक्रमों के आधार पर मतदाताओं के समर्थन से अपना स्थान बनाया हो। उदाहरण के लिए, सन् 1937 में उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में मुस्लिम धार्मिक बहुसंख्यक थे, लेकिन मुस्लिम लीग वहां राजनीतिक अल्पसंख्यक थी। भारत या पाकिस्तानी राष्ट्रवाद पर विचार करते समय हमारे लिए इस अंतर को ध्यान में रखना बहुत महत्वपूर्ण है।

'अल्पसंख्यकों की समस्या' शब्द से सवाल उठते हैं कि सन् 1947 में

हिंदू और मुसलमानों के बीच ही व्यापक रूप से राजनीतिक विभाजन का प्रश्न क्यों आया, और उससे कहीं कम सिख और मुसलमानों के बीच आया, जबकि हिंदू और ईसाइयों में या ईसाई और मुसलमानों के बीच तो बिल्कुल नहीं आया। 'अल्पसंख्यकों की समस्या' का उल्लेख अधिकतर राजनीतिक संदर्भ में ही हुआ है। मुसलमान ही केवल अल्पसंख्यक थे, जिन्हें ब्रिटिश समर्थित संविधान में उनकी राजनीतिक स्थिति का आश्वासन दिया गया, जिसके आधार पर उनके धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक हित सुरक्षित रहते। इस तरह का आश्वासन कभी किसी दूसरे अल्पसंख्यक वर्ग को नहीं दिया गया।

'अल्पसंख्यकों की समस्या' एक भ्रामक दलील है, क्योंकि इसकी चर्चा ईसाई, सिख, पारसी तथा अन्य अल्पसंख्यक वर्गों को छोड़ते हुए केवल मुसलमानों के संदर्भ में की गई है और वह भी अखिल भारतीय स्तर पर। यहां तक कि मुस्लिम बहुल प्रांतों में हिंदू अल्पसंख्यकों को भी छोड़ दिया गया। इसी तर्क के आधार पर कहा जा सकता है कि कांग्रेस की सबसे बड़ी चूक यह रही कि उसने केवल मुस्लिम अल्पसंख्यक प्रांतों पर तो ध्यान दिया और वहां अपने 'अल्पसंख्यक विभाग' स्थापित किए, लेकिन मुस्लिम बहुल प्रांतों पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया, जिससे वहां ऐसी मानसिकता बन गई जो कांग्रेस के लिए एक बाधा बनकर सामने आई और ये प्रांत विभाजन के पक्षधर हो गए। वास्तव में यह वर्गीकरण ही वह कारण हो सकता था जिसके आधार पर 'हिंदू मुस्लिम अंतर' की बात होती रही, लेकिन हिंदू और ईसाई या ईसाई और सिख के अंतर पर नहीं हुई। सन् 1947 से पहले, इन समुदायों में कभी भी राजनीतिक संघर्ष नहीं हुआ; केवल मुस्लिम अल्पसंख्यक वर्ग को ही क्यों ब्रिटेन ने संवैधानिक आश्वस्ति दी? और अंत में यह प्रश्न, जो कम महत्वपूर्ण नहीं है कि विभाजन अपरिहार्य कब हो गया?

3

विभाजन की पृष्ठभूमि : भारत में सांप्रदायिक समस्या

यदि यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि सांप्रदायिकता भारतीय समाज का जन्मजात अंग नहीं थी, तब वे कारण खोजने होंगे कि सन् 1947 में भारतीय राजनीति विभाजन की हद तक क्यों बंट गई। इसका उत्तर तो एक अंश में उन विभिन्न तरीकों में मिल सकता है जिनसे अंग्रेजों ने फूट डालकर भारत पर राज किया।

फूट डालो और राज करो : ब्रिटेन ने 'हिंदू' कांग्रेस के खिलाफ 'मुस्लिम' विरोध खड़ा किया

फूट डालो और राज करो साम्राज्यवादी शासकों की, जो जनमत की कभी परवाह नहीं करते, हमेशा से नीति रही है। ब्रिटेन की नीति का उद्देश्य विशेषकर सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद, हिंदू और मुसलमानों में फूट डालने का इतना नहीं था, जितना कांग्रेस विरोधी मुस्लिम आवाज को प्रोत्साहन देने का था और उसे 'हिंदू' राष्ट्रवाद के खिलाफ, जिसका प्रतिनिधित्व कांग्रेस करती थी, के विरोध में 'मुस्लिम' आवाज को महत्व देने का था।

ब्रिटेन ने भारतीय समाज और राजनीति को हिंदू और मुसलमान के रूप में अभिहित कर उन्हें अलग-अलग राजनीतिक और सांस्कृतिक पहचान के रूप में देखा और उसी पर विचार किया। ब्रिटेन ने भारत के 'मुस्लिम' शासकों को हटाकर राजसत्ता प्राप्त की थी, अतः उन्हें लगता था कि सभी मुसलमान उनके शासन के विरोधी हैं। वे मानते थे कि मुसलमानों ने उन्हें उखाड़ फेंकने

के लिए सन् 1857 के विद्रोह को भड़काया था और वे ऐसा ही फिर कर सकते हैं।

ब्रिटिश प्रशासकों का मानना था कि राजनीतिक और सामाजिक रूप से रूढ़िवादी मुसलमान और हिंदू, जो जमींदार, और राजा हैं, आम भारतीय खेतिहर जनता से बिल्कुल अलग हैं। उच्च वर्ग के मुसलमान अपनी प्रतिष्ठा की पुनर्स्थापना चाहते हैं।

सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद ब्रिटिश शासकों को रूढ़िवादी मुसलमानों की इसलिए आवश्यकता पड़ी ताकि वे उन्हें कांग्रेस के विरुद्ध खड़ा कर सकें। कांग्रेस को वे एक 'राजद्रोही' संगठन के रूप में देख रहे थे। कांग्रेस की मांगें ब्रिटिश शासकों को सबसे अधिक परेशान कर रही थीं, जिनमें प्रमुख थीं - विधान परिषदों का विस्तार, सिविल सर्विस में भारतीयों का प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से प्रवेश तथा ब्रिटेन की उपनिवेशवादी आर्थिक नीतियों की आलोचना। इसका परिणाम क्या होने वाला था, यही कि कुछ ब्रिटिश अधिकारियों के अनुसार, अंग्रेजों को अंततः भारत से निकाल बाहर करना था।

ब्रिटिश वायसरायों ने रूढ़िवादी मुसलमानों द्वारा कांग्रेस के विरोध का स्वागत किया। लार्ड डफरिन ने, जो सन् 1885 में वायसराय था, मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के लिए प्रभावशाली मुसलमानों को अधिक से अधिक रोजगार देने पर बल दिया। वैसे, उसने इससे इनकार किया, और शायद, सच भी हो कि उसने ऐसा कोई प्रयास किया हो जिससे मुसलमानों को कांग्रेस से दूर रखा जा सके। लेकिन ब्रिटिश अधिकारी कांग्रेस के, रूढ़िवादी मुसलमानों द्वारा किए विरोध पर अपनी खुशी को छिपा नहीं सके।

इधर रूढ़िवादी हिंदू भी थे, जो कांग्रेस का विरोध कर रहे थे, लेकिन अंग्रेजों ने इन रूढ़िवादी 'हिंदुओं' के विरोध को कोई मान्यता नहीं दी, लेकिन उसे अपने यहां बगैर कोई नाम दिए विरोध की श्रेणी में रखा, जैसे, 'बंगालियों', 'समाचारपत्र संपादकों', 'बैरिस्टरों', 'क्रांतिकारी तत्वों' तथा जमींदारों, राजाओं को 'राजपूत अभिजात्य' और 'उत्कृष्ट पद नामों से रहनेवाले दकियानूस मुसलमान और हिंदू' विरोध कहा।

हिंदू महासभा ने भी कांग्रेस का विरोध किया, लेकिन अंग्रेजों ने उसको कोई महत्व नहीं दिया। आमतौर पर अंग्रेजों ने कांग्रेस को 'हिंदू' कांग्रेस और

उसका विरोध करने वाले वफादार मुस्लिम विरोध को 'हिंदू' कांग्रेस का 'मुस्लिम' विरोध जैसा नाम देकर भ्रम फैलाने में मदद की। ब्रिटेन ने अपने वफादार हिंदुओं द्वारा कांग्रेस के विरोध को यह मानते हुए अनदेखा कर दिया कि यह उनके लिए राजनीतिक रूप से अनुपयोगी है।

एक उदाहरण देखिए : सन् 1930 के दशक में मुस्लिम लीग और हिंदू महासभा दोनों ही सोचते थे कि कांग्रेस के आर्थिक कार्यक्रम अत्यंत आमूलचूल परिवर्तनकारी हैं। दोनों ही संप्रदायवादी हिंदू और मुस्लिम ब्रिटिश शासन के पक्ष में थे, जबकि कांग्रेस ने सन् 1930 में पूर्ण स्वराज्य और ब्रिटिश ताज से सभी प्रकार के संबंध तोड़ने की चर्चा आरंभ कर दी थी।

सन् 1935 में हिंदू महासभा ने तो यह मान लिया था कि ब्रिटिश भारत के लिए संविधान बनाने की चिंता तो 'भारत के सम्राट की ही होनी चाहिए।' वी.डी. सावरकर तो सोचते थे ब्रिटिश साम्राज्य के लिए भारत के हितों का त्याग कर दिया जाना चाहिए, 'जो एक बहुत बड़ा राजनीतिक संयोजन' है। सावरकर ने भारतीय राष्ट्र के नाम पर बोलने वाले—यानी कांग्रेस पर संकीर्ण होने का आरोप लगाया था। इससे पहले सन् 1932 में, गोलमेज सम्मेलन में मोहम्मद अली जिन्ना का विचार था कि ब्रिटेन को कांग्रेस पार्टी को रोकने के लिए भारत को डोमिनियन राज्य का दर्जा दे देना चाहिए, जबकि कांग्रेस पूर्ण स्वराज्य की बात पर अडिग थी।

ब्रिटेन ने मुस्लिम लीग को इस बात के लिए कभी प्रोत्साहित नहीं किया कि वह हिंदू महासभा को अपना घोर शत्रु न समझे। और शायद, इससे कोई उद्देश्य सिद्ध होने वाला भी नहीं था। हिंदू महासभा उग्र हिंदू सांप्रदायिकता की अगुआ थी, लेकिन वह ब्रिटेन को नहीं हटाना चाहती थी। वास्तव में, ब्रिटेन इसे अपने राजनीतिक स्वार्थों के बढ़ावे के रूप में देख रहा था। यह उल्लेखनीय है कि ब्रिटेन ने महासभा को नहीं, बल्कि मुस्लिम लीग को एक संगठन के रूप में चुना, जिसे वह कांग्रेस के राष्ट्रवादी आंदोलन को निष्प्रभावी करने के काम में ला सके। 7 अक्तूबर, 1939 को तत्कालीन वायसराय लिनलिथगो को उस समय खुश होने की बजाय हंसी आई जब कांग्रेस के मंत्रिमंडलों ने इस्तीफा देने की धमकी दी और वी.डी. सावरकर ने ब्रिटेन को खुश करने के लिए अपनी सेवाएं अर्पित करते हुए कहा कि उनकी पार्टी के लोग कांग्रेसियों की जगह लेने के लिए तैयार हैं, लेकिन वायसराय ने उनके इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

सन् 1905 में बंगाल के विभाजन का निर्णय, कुछ अंशों में, बंगाल प्रांत के राष्ट्रवादी आंदोलन को कुचलने के उद्देश्य से लिया गया था। कांग्रेस ने आरोप लगाया था कि इस विभाजन का परिणाम राष्ट्रीय एकता को क्षति पहुंचाएगा। ब्रिटिश अधिकारियों की दृष्टि में इस योजना का सबसे बड़ा गुण यही था कि विभाजन से मुस्लिम भी खुश होंगे और इस बात के अवसर भी कम हो जाएंगे कि कांग्रेस उन पर भारी पड़ सके।

बंगाल विभाजन ने राष्ट्रवादी आंदोलन को कमजोर करने के बजाय उसे एक लोकप्रिय क्रांतिकारी आंदोलन में बदल दिया। विभाजन के खिलाफ तेज हुए आंदोलन ने अंग्रेजों को यह सोचने के लिए बाध्य कर दिया कि एक रूढ़िवादी नया राजनीतिक संगठन खड़ा करके उसके द्वारा कांग्रेस का प्रतिकार किया जाए।

सन् 1909 में पृथक मतदान की व्यवस्था को इस आधार पर न्यायोचित ठहराया गया कि मुसलमानों और हिंदुओं के अलग-अलग धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक हित हैं। संयुक्त मिश्रित मतदान व्यवस्था में कांग्रेस समर्थक मुसलमान चुने जा सकते हैं। पृथक मतदान की व्यवस्था से रूढ़िवादी मुसलमानों को मौका मिल सकेगा और वे परिषदों के लिए चुने जा सकेंगे, जहां वे कांग्रेस के शिक्षित मध्यवर्गीय प्रतिनिधियों का प्रतिरोध कर सकेंगे।

इस पृथक मतदान व्यवस्था ने सांप्रदायिक वैमनस्य को संस्थागत रूप दे दिया, विशेषकर वहां, जहां हिंदू और मुसलमानों के आर्थिक हित अलग-अलग थे। उदाहरण के लिए, पंजाव में एक वहुत वड़ी संख्या में हिंदू जमींदार, व्यापारी और महाजनी व्यवसाय में लगे थे इसलिए पंजाब जमींदारी हस्तांतरण कानून, 1900 द्वारा जिसमें किसानों को अपनी कृषि जमीनें गैर-कृषि कार्यों के लिए हस्तांतरित किये जाने पर प्रतिबंध था, किसानों पर हिंदुओं को अपनी कृषिभूमि देने से रोक लगा दी।

सांप्रदायिक हिंसा की जटिलताएं

हिंदू और मुसलमानों के वीच की आर्थिक प्रतिद्वंद्विता सांप्रदायिक दंगों के रूप में सामने आई। सांप्रदायिक हिंसा राजनीतिकों तथा संगठनों द्वारा धार्मिक भावनाओं को भड़काने वाले भाषणों से फैली, परिणामस्वरूप जान-माल की हानि हुई। दंगे शायद सांप्रदायिक समस्या के सबसे अधिक दुखद और

घातक प्रदर्शित रूप रहे। दंगे धार्मिक मुद्दों पर गलतफहमी से या अखबारों और राजनीतिक संगठनों द्वारा चलाए गए दुष्प्रचार से भड़के, जिससे जन समुदाय प्रभावित हुआ और आश्चर्य नहीं कि इक्कीसवीं सदी में भी प्रभावित है। जन समुदाय को राजनीति में खींच लाने का मतलब है कि यदि वह राष्ट्रवादी आंदोलन को मजबूत कर सकता है, तो वह सांप्रदायिक प्रचार से प्रभावित भी हो सकता है और आगे चलकर सांप्रदायिक संगठनों का समर्थन भी कर सकता है। किसी दल की राजनीतिक सफलता उसे मिले व्यापक जन समर्थन पर निर्भर करती है। इस बात का मुस्लिम लीग ने सन् 1937 के चुनावों में मिली हार के बाद अनुभव किया।

सांप्रदायिक दंगों में आम जनता की भागीदारी का यह मतलब नहीं था कि ये उपद्रव अवश्यंभावी थे क्योंकि, राष्ट्रीय आंदोलन आम जनता के बीच फैलता जा रहा था। बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों से लेकर बाद तक, इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि सांप्रदायिक हिंसा को अक्सर राजनीतिक और धार्मिक आंदोलनकारियों या अखबारों ने, जो सांप्रदायिक भावनाओं को हवा दे रहे थे, अपने स्वार्थों के लिए भड़काया। इन सांप्रदायिक दंगों में राजनीतिक संगठनों द्वारा जुटाए गए असामाजिक तत्वों ने लूटपाट, आगजनी और हत्याएं कीं, इससे इस बात का पता चलता है कि सांप्रदायिक दंगे आकस्मिक नहीं थे। उदाहरण के लिए, भारत सरकार की रिपोर्ट के अनुसार सितंबर, 1917 में शाहाबाद जिले में बकरीद के मौके पर उपद्रव भड़का। इस क्षेत्र के हिंदू और मुसलमानों के बीच गौ-हत्या के मसले पर समझौता भी हो गया था, फिर भी हिंदुओं ने इब्राहिमपुर गांव में मुसलमानों पर हमला बोल दिया और उनकी संपत्ति लूट ली। अक्सर छोटे-मोटे जमींदार दंगाइयों की भीड़ की अगुआई किया करते थे, वे हाथी या घोड़े पर सवार होकर उन्हें उकसाते चलते थे।

सांप्रदायिक हिंसा के पीछे अक्सर राजनीतिक कारण और राजनेता होते थे। बंगाल सरकार का मानना था कि कलकत्ता में हुए सन् 1926 के दंगे राजनीतिक कारणों से, दोनों पक्षों द्वारा पूर्व नियोजित थे।

सांप्रदायिक संगठनों का ऐसा कोई आर्थिक, सांस्कृतिक या सामाजिक सुधार का कार्यक्रम नहीं होता था जिससे जनता लाभान्वित होती। हिंदू महासभा के एक प्रमुख नेता भाई परमानंद ने इस बात को माना था कि महासभा जन समुदाय को आकर्षित नहीं कर सकी, क्योंकि यह हिंदू आबादी के 'एक चुने

हुए वर्ग' तक ही सीमित थी अतः आम आदमी इससे दूर ही रहा। सन् 1937 के चुनावों के बाद मुस्लिम लीग ने यह अनुभव करना शुरू किया कि राजनीतिक सफलता के लिए जन समर्थन जरूरी है, तब वह सामाजिक और आर्थिक सुधार के कार्यक्रम बनाने लगी।

हिंदू और मुस्लिम सांप्रदायिक संगठन दोनों एक ही तरह से सोचते थे कि हिंदू और मुस्लिम समुदाय दो राष्ट्र हैं जिनमें आपसी मेल-मिलाप या सह-अस्तित्व की कोई संभावना नहीं है, जबकि दूसरी तरफ कांग्रेस सभी वर्गों और समुदायों का सम्मिलित 'भारत के इतिहास में पहली बार' एक 'भारतीय' राष्ट्र बनाना चाहती थी।

कांग्रेस इस विचार की विरोधी थी कि भारतीय धार्मिक समूहों के नाम पर सत्ता प्राप्त की जाए। उसने एक आमूल परिवर्तनकारी साम्राज्यवाद विरोधी रुख अपनाया विशेषतया दूसरे दशक के बाद। लेकिन वह साम्राज्यवादी ढांचे के अंदर ही कार्यरत थी और उसकी सीमाओं में बंधी थी। इसलिए कभी-कभी उसके विचार और कार्य असंगत हो जाते थे। वस्तुतः, इससे कांग्रेस में भ्रम की स्थिति थी और इसे विडंबना ही कहेंगे कि जो कांग्रेस समस्त भारतीयों का प्रतिनिधि होने का दावा करती थी, कई मौकों पर उसने उस मुस्लिम लीग से वार्ताएं कीं, जो केवल मुसलमानों का प्रतिनिधि होने का दावा करती थी। जैसा कि हम आगे देखेंगे कि कांग्रेस के जो नेता पाकिस्तान के विचार के ही खिलाफ थे, वे इस पर 1940 के दशक में जिन्ना से बात करने के लिए तैयार दिखाई दिए। वे इस उम्मीद में थे कि ब्रिटेन के विरुद्ध वे जिन्ना को अपने पक्ष में कर लेंगे। लेकिन ऐसा करके उन्होंने पाकिस्तान के मुद्दे को ही महत्व दिया।

कांग्रेस जानती थी कि सांप्रदायिकता के मुद्दे का उपयोग ब्रिटेन कांग्रेस के दावे के प्रतिकार के लिए कर सकता है कि यदि कांग्रेस बहुसंख्यक भारतीयों का प्रतिनिधित्व करती है, तो मुस्लिम लीग के साथ अपने मतभेदों को सुलझा ले। हालांकि, सन् 1945 से पहले कांग्रेस यह जानती थी कि बहुसंख्यक मुस्लिम जनता की ओर से बोलने का लीग का दावा बहुत कमजोर है, फिर भी वह साम्राज्यवाद के विरोध में लीग का समर्थन पाने की बराबर आशा करती रही।

सन् 1937 के बाद सांप्रदायिकता की समस्या में बदलाव आया। सन् 1937 के चुनाव में कांग्रेस की जीत और मुस्लिम लीग की असफलता कि

वह मुस्लिम मतदाताओं का बहुमत नहीं जुटा सकी, देर-सबेर ब्रिटेन की भारत से वापसी की संभावना, और फिर यह प्रश्न कि ब्रिटेन की जगह शासक कौन होगा—ने सांप्रदायिक समस्या में एक नया आयाम जोड़ दिया। इसने इस विचार को और मजबूत कर दिया कि मुसलमानों की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक आकांक्षाओं को केवल एक स्वतंत्र मुस्लिम राज्य ही पूरा कर सकता है, अतः मुस्लिम लीग ने सन् 1940 के बाद, देर-सबेर ब्रिटेन के हट जाने पर, भारत को दो राष्ट्रों में विभाजित करने के अपने अभियान को तेज कर दिया।

4

सन् 1937 के चुनाव, कांग्रेस सत्ता में, और मुस्लिम लीग सत्ता विहीन

विभाजन के मुद्दे ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच के गहरे राजनीतिक मतभेदों को दो मुख्य मुद्दों पर आमने-सामने खड़ा कर दिया : उनका ब्रिटिश राज्य के प्रति रुख और यह कि भारत का शासन कैसे किया जाएगा और कौन करेगा। पहली बात कि सन् 1935 के एक्ट के अंतर्गत प्रांतीय विधान परिषदों के चुनावों से पहले और बाद में ये विवाद कैसे आगे बढ़े? दूसरी बात, बहुत-से लोगों ने इसके लिए तर्क दिया है कि चुनावों के बाद संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच गठबंधन संभव था, लेकिन नेहरू की हठधर्मी विचारधारा ने इसे असंभव कर दिया। क्या उत्तर प्रदेश में सन् 1937 में इस गठबंधन की असफलता ने मुस्लिम लीग को मार्च, 1940 में प्रोत्साहित किया कि वह पाकिस्तान की मांग करे? या फिर चुनाव के बाद लीग की कमजोर स्थिति ने उसे उकसाया कि वह पाकिस्तान की मांग करे? इस अध्याय में सन् 1937 और 1939 के बीच के राजनीतिक घटनाक्रमों पर विचार किया जाएगा।

जवाहरलाल नेहरू और मोहम्मद अली जिन्ना, जिन्होंने सन् 1936 के प्रांतीय चुनावों में अखिल भारतीय मुख्य दलों का नेतृत्व किया और सन् 1946-7 में सत्ता हस्तांतरण के समझौते में मुख्य भूमिका निभाई, सांप्रदायिक समस्या के बारे में बिल्कुल अलग-अलग दृष्टिकोण रखते थे। नेहरू के लिए सांप्रदायिक समस्या गौण मुद्दा था, वास्तविक मुद्दा तो स्वतंत्रता प्राप्त करना था। जिन्ना

के लिए मुख्य मुद्दा अल्पसंख्यक मुस्लिम वर्ग की पहचान और उसकी संस्कृति को बचाने के लिए राजनीतिक सुरक्षा के उपायों को सुनिश्चित करना था, जिससे राज्य में उनका एक पृथक अस्तित्व बने। अगस्त, 1947 में स्वाधीनता की प्राप्ति ने कांग्रेस के वास्तविक मुद्दे को तो हल कर दिया, लेकिन भारत का विभाजन धार्मिक आधार पर हुआ, जो उस धर्म-निरपेक्ष भारतीय राष्ट्रवाद, जिस पर कांग्रेस को हमेशा गर्व रहा, के विपरीत था। विभाजन ने उजागर कर दिया कि सन् 1936 का 'गौण मुद्दा' सन् 1947 में जिन्ना के मुख्य मुद्दे के साथ जटिलताओं से बुना हुआ था। लेकिन मार्च, 1940 से पहले मुस्लिम लीग ने अलग राज्य की मांग नहीं की थी।

प्रांतीय विधान परिषदों के चुनाव सन् 1935 के एक्ट के अधीन हुए थे। सन् 1935 का यह एक्ट भारत में ब्रिटेन द्वारा लागू किया गया पहला सवैधानिक कदम था, जिससे लगता था कि जो पार्टियां सीटों को बहुसंख्या में जीतेंगी, वे मंत्रिमंडलों का गठन करेंगी और संयुक्त आधार पर सामूहिक उत्तरदायित्व से काम करेंगी।

कांग्रेस और लीग दोनों ही इस एक्ट से असंतुष्ट थे, क्योंकि इस एक्ट से भारतीयों की राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति की दिशा में अधिक दूर तक नहीं पहुंचा जा सकता था। कांग्रेस के लिए यह एक तरह से गुलामी का घोषणा-पत्र था, क्योंकि इसे बालिग मताधिकार के आधार पर संविधान सभा द्वारा नहीं बनाया गया था। साथ ही इसमें ब्रिटेन की इस वचनबद्धता का भी कि वह भारत से अपने राज को खत्म करेगा, उल्लेख नहीं था। मुस्लिम लीग भी इस एक्ट को 'अत्यंत प्रतिक्रियावादी' मानती थी। फिर भी दोनों दलों ने इस एक्ट के तहत प्रांतीय चुनावों को लड़ने का निश्चय किया, क्योंकि चुनाव अभियान उन्हें मतदाताओं के बीच अपने-अपने विचारों के प्रचार करने का मंच प्रदान कर रहा था। उम्मीद की जाती थी कि कांग्रेस हिंदू बहुल प्रांतों में स्पष्ट रूप से विजयी होगी और लीग या क्षेत्रीय दल, जिनका नेतृत्व प्रांतीय मुस्लिम नेता कर रहे थे, मुस्लिम बहुल प्रांतों में विजयी होंगे।

इस चुनाव में सन् 1920 के 70 लाख मतदाताओं की अपेक्षा 3 करोड़, 60 लाख मतदाता थे, जो वयस्क आबादी का 30 प्रतिशत थे, जिन्हें प्रांतीय विधानमंडलों के लिए 1585 प्रतिनिधियों को चुनना था।

सन् 1936 में नेहरू को पूरी आशा थी कि वे सांप्रदायिक समस्या को

सुलझा लेंगे। हिंदू महासभा का, जो हिंदू सांप्रदायिक संगठन था, हिंदू बहुमत पर वहुत कम प्रभाव था और कांग्रेस ने उसे राजनीतिक रूप से अप्रासंगिक मानते हुए नकार दिया था। मुस्लिम लीग भी सन् 1920 से लगभग निष्क्रिय ही थी और जन सामान्य में लीग की लोकप्रियता भी नगण्य हो चली थी। लीग का सामाजिक अनुदारवाद उन आर्थिक सुधारों के प्रति उदासीन था, जिनसे भारत के सभी समुदायों का भला हो सकता था। पंजाब और बंगाल जैसे मुस्लिम बहुल प्रांतों में भी जहां मजबूत अंतर-सांप्रदायिक क्षेत्रीय पार्टियों का नेतृत्व मुसलमान राजनीतिक कर रहे थे, वे भी जिन्ना के मुस्लिम एकता के आह्वान के प्रति उदासीन रहे।

कांग्रेस और लीग के बीच दूरी अंग्रेजों के प्रति उनके रुख को लेकर थी। लीग की सोच थी कि अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा की गांरटी अंग्रेजों द्वारा ही दी जानी चाहिए, और वह अंग्रेजी सत्ता की भारत से वापसी में अंतर्निहित होनी चाहिए। कांग्रेस का लक्ष्य स्वतंत्रता प्राप्त करना था, जो सन् 1936 के उसके चुनावी घोषणा-पत्र, और उसे मिल रहे बढ़ते हुए जन समर्थन तथा स्वतंत्रता आंदोलन में आम जनता की भागीदारी से परिलक्षित हो रहा था। नेहरू के लिए भारत में दो ही ताकतें थीं : कांग्रेस, जो भारतीयों की स्वाधीनता-प्राप्ति की इच्छा का प्रतिनिधित्व कर रही थी; और अंग्रेज, जो उसे दबाने की कोशिश कर रहे थे।

जिन्ना के लिए यहां एक तीसरी ताकत भी थी—और वह थी मुस्लिम लीग। जिन्ना का मुख्य उद्देश्य भारतीय राजनीति में मुसलमानों के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में मुस्लिम लीग को स्थापित करना था। यह बहुत कठिन कार्य था। लीग सन् 1920 से लगभग निष्क्रिय थी। उसका सन् 1931 और 1933 के बीच वार्षिक खर्च 3,000 रुपये से ज्यादा नहीं था। लीग का केंद्रीय कार्यालय दिल्ली में होने के कारण, सुदूर प्रांतों के सदस्य मुश्किल से ही पार्टी की बैठकों में शामिल हो पाते थे। सन् 1937 के चुनाव से पहले जिन्ना पंजाब और वंगाल के मुस्लिम नेताओं को मनाने में असफल रहे, क्योंकि इन प्रांतीय मुस्लिम नेताओं को हिंदुओं का समर्थन भी चाहिए था।

प्रांतीय चुनावों ने स्पष्ट कर दिया कि कांग्रेस एक अखिल भारतीय ताकत है। कांग्रेस ने सामान्य विधान सभाई क्षेत्रों की 1161 सीटों पर चुनाव लड़ा और 716 सीटें जीतीं। ग्यारह प्रांतों में से छह प्रांतों में उसने स्पष्ट वहुमत

प्राप्त किया, और तीन अन्य प्रांतों में वह एकमात्र सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी। उसने हिंदू महासभा को संयुक्त प्रांत और पंजाब में बुरी तरह से परास्त किया और राजनीतिक रूप से उसे पंगु बना दिया।

कांग्रेस की सफलता मुस्लिम बहुल प्रांतों में कम उल्लेखनीय रही। उसने 482 मुस्लिम सीटों में से केवल 56 पर चुनाव लड़ा और 28 सीटें जीतीं। वह संयुक्त प्रांत, पंजाब तथा बिहार में एक भी मुस्लिम सीट नहीं जीत सकी, लेकिन मुस्लिम बहुल उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में उसका प्रदर्शन अच्छा रहा।

मुस्लिम बहुल प्रांतों में कांग्रेस की कमजोरी का कारण, जरूरी नहीं कि सांप्रदायिक रुझान रहा हो। लीग भी सभी मुस्लिम सीटों पर चुनाव लड़ने में असमर्थ रही। पृथक मतदान प्रणाली पर आधारित व्यवस्था में लीग देश भर के कुल मुस्लिम वोटों का 4.8 प्रतिशत ही पा सकी, और वह मुस्लिम बहुल प्रांतों में से किसी में भी अपनी सरकार नहीं बना सकी। उसे पंजाब में अंतर-सांप्रदायिक क्षेत्रीय पार्टी—यूनियनिस्ट पार्टी और बंगाल में कृषक प्रजा पार्टी से भी हार खानी पड़ी। पंजाब में 84 मुस्लिम सीटों में से लीग ने 7 पर चुनाव लड़ा और केवल दो ही जीत पाई। सिंध में 33 मुस्लिम सीटों में से तीन सीट जीत पाई। बंगाल में 117 मुस्लिम सीटों में से वह 38 सीट जीत सकी। स्पष्ट था कि मुस्लिम बहुल प्रांतों में भी लीग अपने जनाधार में पिछड़ी हुई थी।

मुस्लिम सीटों पर कांग्रेस और लीग दोनों के ही कमजोर प्रदर्शन ने दिखा दिया कि सन् 1937 के चुनावों में सांप्रदायिकता के सवालों ने कोई मुख्य भूमिका नहीं निभाई। दोनों में से कोई भी मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का दावा नहीं कर सकता था। लेकिन सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में कांग्रेस की सफलता ने अखिल भारतीय स्तर पर उसकी लोकप्रियता को सिद्ध कर दिया था। लीग के लिए कोई बहुत आशाजनक भविष्य दिखाई नहीं दे रहा था, क्योंकि वह न तो मुस्लिम मतों को बहुल संख्या में जीत पाई और न किसी भी मुस्लिम बहुल प्रांत में सरकार ही बना पाई। इसके विपरीत कांग्रेस ने सात प्रांतों में, जहां वह जीती थी, अपनी सरकारें बनाईं।

उत्तर प्रदेश में कांग्रेस-लीग गठजोड़ नहीं

जिन्ना हालांकि, कांग्रेस के साथ गठबंधन के लिए तैयार दिखाई दे रहे थे,

जबकि वे आपसी मतभेदों पर भी जोर दे रहे थे। मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों में लीग की कमजोर स्थिति को देखते हुए नेहरू गठबंधन के लिए बहुत इच्छुक नहीं थे। वे सोचते थे कि आर्थिक सुधार के मुद्दे पर वे मुस्लिम जनता को कांग्रेस के पक्ष में कर लेंगे। इसलिए कांग्रेस ने सन् 1937 की गर्मियों में मुस्लिम जन संपर्क कार्यक्रम आरंभ कर दिया। इस कार्यक्रम से जिन्ना बौखला गए।

कांग्रेस अगर मुस्लिम जनता का समर्थन प्राप्त कर लेती तो लीग को राजनीतिक दायरे से बाहर हो जाना पड़ता। अतः अपने राजनीतिक दायरे को वढ़ाने के लिए जिन्ना ने कांग्रेस के मुस्लिम जन संपर्क कार्यक्रम को लीग के प्रतिकूल माना और नेहरू को सलाह दे डाली कि वह 'अपनी जनता यानी हिंदुओं' तक ही सीमित रहें।

नेहरू ने भी साफ कह दिया कि कांग्रेस को यह अधिकार है कि वह किसी भी समुदाय में अपना अभियान चलाए। और ऐसा ही अधिकार लीग को भी है। नेहरू ने जिन्ना को आमंत्रित किया कि वे हिंदुओं के बीच अपना अभियान चलाएं। कांग्रेस का इरादा कोई सांप्रदायिक पार्टी बनने का नहीं था। दिसंबर, 1938 में कांग्रेस ने हिंदू महासभा और मुस्लिम लीग को सांप्रदायिक संगठन बताते हुए उनसे अपनी दूरी बना ली थी। कांग्रेस का स्वरूप धर्मनिरपेक्ष था और उसका दावा सभी समुदायों के प्रतिनिधित्व करने का था।

जिन्ना की चिंताओं को मई, 1937 में संयुक्त प्रांत की मुस्लिम लीग के नेता चौधरी खलीकुज्जमा और प्रांतीय कांग्रेस के बीच गठबंधन की वार्ताओं ने और बढ़ा दिया। जिन्ना ने गठबंधन का शुरू से ही विरोध किया, क्योंकि इस गठबंधन के सफल होने से वह उस समय अलग-थलग पड़ जाते, जबकि वह लीग को ही मुसलमानों का एकमात्र 'सच्चा' प्रतिनिधि होने का दावा कर रहे थे। जिन्ना ने इस बीच अधिकतर प्रांतों के लीगी नेताओं को अपने साथ मिला लिया। नेहरू को इस बात का पता जुलाई में चला। नेहरू का विचार था कि यह गठबंधन आपसी समझौते के आधार पर या मिले-जुले सामान्य कार्यक्रम के आधार पर होगा, लेकिन खलीकुज्जमा ने साफ-साफ कह दिया कि लीग कांग्रेस की सन् 1935 के एक्ट को रद्द करने की मांग या ऐसे किसी काम में, जिसे ब्रिटेन पसंद न करता हो, साथ नहीं देगी। इतना ही नहीं, संयुक्त प्रांत लीग ने अपने इस रुख को दोहराते हुए एक प्रस्ताव भी पारित कर दिया।

कांग्रेस मंत्रिमंडलों के खिलाफ जिन्ना का अभियान

जिन्ना ने अब अपना जनाधार बनाने का प्रयास शुरू किया। पंजाब और बंगाल के क्षेत्रीय मुस्लिम नेताओं की सहानुभूति मुस्लिम लीग के साथ नहीं थी लेकिन वे कांग्रेस के मुस्लिम जन संपर्क कार्यक्रम को लेकर चौक्कने हो गए थे। सिकंदर हयात खां की जिन्ना के साथ इस बात पर सहमति बन गई कि लीग प्रांतीय राजनीति में दखल नहीं देगी, वह केवल अखिल भारतीय स्तर पर मुसलमानों के बारे में बोलेगी। बंगाल में फज्लुल हक ने भी अपने मंत्रिमंडल का विरोध करने वाले प्रांतीय प्रतिद्वंद्वियों का मुकाबला करने के लिए जिन्ना की सहायता प्राप्त कर ली। लेकिन सन् 1937 में सिंध युनाइटेड पार्टी के नेता अल्लाह बख्श ने लीग की सांप्रदायिकता को समर्थन नहीं दिया, और उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत भी एक कांग्रेस प्रांत बना रहा।

जिन्ना ने कांग्रेस मंत्रिमंडलों के विरुद्ध अपने अभियान को तेज कर दिया। सन् 1938 में लीग ने कांग्रेस शासित प्रांतों में मुसलमानों की शिकायतों की जांच के लिए एक समिति गठित की। लीग ने इस समिति की रिपोर्ट प्रकाशित की, जो इस जांच समिति के अध्यक्ष राजा पीरपुर के नाम पर पीरपुर रिपोर्ट के नाम से जानी गई। पीरपुर रिपोर्ट में प्रांतीय कांग्रेस सरकारों पर मुसलमानों के साथ भेदभाव बरतने का आरोप लगाया गया। कांग्रेस को इन आरोपों के कारण अपने बचाव में उतरना पड़ा। विचारधारागत मतभेद प्रायः धार्मिक रंग लेने लगे। जैसाकि भारतीयों में बहुसंख्या धार्मिक रूप से हिंदुओं की थी, और कांग्रेस एक व्यापक राष्ट्रवादी संगठन था, जो भारतीय बहुसंख्यकों का प्रतिनिधित्व करता था, जिसमें सभी समुदाय और वर्ग के लोग सम्मिलित थे, उसे ऐसा माना गया कि वह केवल हिंदुओं की प्रतिनिधि है।

पीरपुर रिपोर्ट में लगाए गए आरोपों का कांग्रेस ने बचाव किया, जिस पर हुई प्रतिक्रिया ने दिखा दिया कि दुष्प्रचार किस आसानी से मिथ यानी काल्पनिक सत्य बन जाता है और तब उसे विशेष राजनीतिक संदर्भों में बनाई गई नीतियों के आधार पर, एक तथ्य के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। कांग्रेस के नेताओं ने मुस्लिम लीग के इस दुष्प्रचार से मुसलमानों पर पड़ने वाले मानसिक प्रभाव को भी समझा। कांग्रेस मुस्लिम लीग को नहीं बल्कि, आम मुस्लिम मतदाता को समझाना चाहती थी। कांग्रेस ने मुस्लिम लीग से

127064
23-3-09

आपसी राजनीतिक मतभेदों को सुलझाने के लिए सहयोग मांगा, पर वह मुस्लिम जन संपर्क कार्यक्रम को छोड़ने या लीग को मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि मानने को तैयार नहीं थी।

अंग्रेज जानते थे कि पीरपुर रिपोर्ट में लगाए गए आरोपों में सचाई बहुत कम है और ये आरोप लीग की सक्षम राजनीतिक शक्ति के अभाव के कारण निहित उद्देश्य से लगाए गए हैं, और वे निजी तौर पर कांग्रेस के इस विचार का समर्थन भी करते थे कि लीग कांग्रेस शासित प्रांतों में सांप्रदायिकता भड़का रही है।

कांग्रेस के नेता यह भी जानते थे कि कुछ कांग्रेसी सांप्रदायिक हैं और कांग्रेस के सामाजिक व आर्थिक मुद्दे अलग-अलग प्रांतों में सांप्रदायिक रंग उभार सकते हैं। उदाहरण के लिए, संयुक्त प्रांत में कांग्रेस भूमि सुधार में आमूल परिवर्तन के पक्ष में थी, जो यहां के हिंदू और मुसलमान जमींदारों के हितों के विरुद्ध था, जबकि पंजाब में भूमि सुधार के मुद्दे पर कांग्रेस तटस्थ थी। सभी समुदायों के कृषक भूमि सुधार प्रस्ताव के समर्थन में थे, जबकि गैर-कृषक यानी जमींदार और कर्ज देने वाले साहूकार वर्ग के लोगों ने, जिनमें बहुत-से हिंदू थे, प्रस्ताव का विरोध किया। इसलिए पंजाब में भूमि सुधार प्रस्ताव पर कांग्रेस की तटस्थता को मुस्लिम विरोधी ठहराया गया।

सन् 1939 की शुरुआत में यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस को मुसलमानों का समर्थन जुटाना होगा। लेकिन यह भी स्पष्ट था कि जिन्ना को राजनीतिक हैसियत पाने के लिए किसी बड़े मुद्दे को तलाशना होगा। जिन्ना के पास कांग्रेस के विरुद्ध एक ही हथियार था—नकारात्मक और गैर-रचनात्मक रुख। जिन्ना का सिकंदर और हक से मेल-जोल तो हो गया था, लेकिन जिन्ना की बेचैनी बराबर बनी हुई थी, क्योंकि ये दोनों दूसरी पार्टियों से संबंध बनाए हुए थे और जिन्ना के सामने बिना शर्त झुकने के लिए तैयार नहीं थे। उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में तो लीग का नाम लोगों ने 'मोटर लीग' रख दिया था, क्योंकि लीग के नेता अपना अधिकतर समय चाय पार्टियों में भाग लेने के लिए मोटर की ड्राइविंग में गंवाया करते थे। केवल बंगाल में लीग ने कांग्रेस के मुस्लिम जन संपर्क कार्यक्रम का सामना करने के लिए कुछ जिलों में शाखाएं खोली हुई थीं। संयुक्त प्रांत में शिया-सुन्नी विवाद को न सुलझा पाने की लीग की असफलता ने मुसलमानों पर उसके प्रभाव की कमी को भी रेखांकित कर दिया था।

स्पष्ट है कि तब, कांग्रेस से मुसलमानों का अलगाव सन् 1939 तक न तो उन्हें संगठित कर सका था और न उन्हें लीग का समर्थक बना सका था। सन् 1937 से मतदाताओं का राजनीतिकरण लीग और हिंदू महासभा जैसे सांप्रदायिक संगठनों की सफलताओं का भी परिणाम नहीं था। लीग और कांग्रेस दोनों के पास ही मुस्लिम जन समर्थन जीतने के अवसर थे। संयुक्त प्रांत में लीग और कांग्रेस के बीच गठबंधन के लिए समझौता वार्ताओं का जिन्ना द्वारा किया गया विरोध बतलाता है कि समझौता वार्ताओं की असफलता सन् 1940 में जिन्ना की संप्रभु पाकिस्तान की मांग का कारण नहीं हो सकती थी।

5

भारत और विश्वयुद्ध : 1939-41 'पाकिस्तान' का राजनीतिक एजेंडे में आना

3 सितंबर, 1939 को भारत की राजनीति में एक नया अध्याय जुड़ा। तत्कालीन वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो ने राजनीतिक पार्टियों, विधान सभाओं या प्रांतीय मंत्रिमंडलों से बिना कोई विचार-विमर्श किए विश्वयुद्ध में भारत के भाग लेने की घोषणा कर दी। लिनलिथगो का प्रमुख उद्देश्य विश्वयुद्ध के लिए भारत को एक अड्डा बना देना था, जहां से उसे सैनिक और धन दोनों ही उपलब्ध होते रहें। इसके लिए उसे भारत की राजनीतिक पार्टियों का तत्काल समर्थन चाहिए था।

कांग्रेस और लीग के बीच की दरार का गहराना

विश्वयुद्ध ने एक ओर ब्रिटिश और कांग्रेस के बीच तो दूसरी ओर लीग और कांग्रेस तथा अन्य के बीच राजनीतिक अलगाव को और गहरा कर दिया। इस अध्याय में बताया गया है कि क्यों और कैसे ब्रिटिश चालों ने सन् 1939 और 1941 के बीच जिन्ना की सहायता की और उसकी राजनीतिक स्थिति को मजबूत कर उसे केंद्र में ला बैठाया, बावजूद इसके कि मुस्लिम बहुल प्रांतों में भी लीग की हालत कमजोर थी। इस अध्याय में इस पर भी विचार किया जाएगा कि मार्च, 1940 में लीग की पाकिस्तान की मांग क्या जिन्ना की डावांडोल राजनीतिक स्थिति का या फिर आम मुसलमानों की मांग का नतीजा थी?

लिनलिथगो ने गांधी और नेहरू का समर्थन प्राप्त करने को सबसे

अधिक महत्व दिया, क्योंकि उनकी अपील बहुत प्रभावी हो सकती थी। लिनलिथगो कांग्रेस की ताकत को जानता था, इस बात का पता उसके उस एक पत्र से चलता है, जो उसने 15 मई, 1941 को तत्कालीन भारत-मंत्री लॉर्ड एमेरी को लिखा :

> मैं इतिहास की सभी सीखों को देखते हुए यह समझता हूं कि इस देश में राष्ट्रीयता की अग्रदूत और निर्विवाद रूप से प्रतिनिधित्व करने वाली महान राजनीतिक पार्टी को गैर-कानूनी ठहराने का प्रयास करना या उपेक्षित करना अन्यायपूर्ण होगा।

दूसरे, राजनीतिक पार्टियों का सहयोग प्राप्त करना इसलिए भी अति आवश्यक था कि इससे सैन्यशक्ति में बढ़ोतरी होती और सेना की निष्ठा भी बनी रहती। भारत की सेना ब्रिटिश साम्राज्य के लिए एक रक्षक प्राचीर जैसी थी। वायसराय ने भारतीय राजनेताओं से वार्ताएं आरंभ कीं, ताकि वह सहायता के बदले में उनकी शर्तों को जान सके। वह ब्रिटेन के प्रति गांधी की सहानुभूति से प्रभावित था, लेकिन वह यह भी जानता था कि भारतीय पार्टियां विश्वयुद्ध में अपने समर्थन के बदले में उससे राजनीतिक छूटें भी चाहेंगी। जिन्ना को उम्मीद थी कि अपना समर्थन देने के बदले में वह वायसराय से यह वायदा करा लेगा कि वह फेडरेशन के विचार को छोड़ दे क्योंकि, फेडरेशन में भारत को संयुक्त रखा जाना था। प्रांतीय स्वायत्तता ने दिखा दिया था कि यदि कांग्रेस बहुमत में होगी तो वह कैसा व्यवहार करेगी, इसलिए जिन्ना चाहते थे कि कांग्रेस के मंत्रिमंडलों को तत्काल भंग कर दिया जाए।

लिनलिथगो ने फेडरेशन के विचार को छोड़ने और कांग्रेस के बहुमत वाले मंत्रिमंडलों को भंग करने का कोई कारण नहीं देखा। उसने ह्वाईट हॉल में अपने उच्च अधिकारियों को सूचित कर दिया कि जिन्ना का मत अस्थिर और अनिश्चित है। इधर फज्लुल हक और सिकंदर हयात खां पहले ही वायसराय को, जिन्ना की सौदेबाजी की प्रवृत्ति और उसकी इच्छा के विरुद्ध जाकर, बिना किसी शर्त के अपने समर्थन का आश्वासन दे आए। जिन्ना का नेतृत्व भी उनकी पार्टी के उन अतिवादी सदस्यों के कारण खतरे में पड़ गया, जो जिन्ना को प्रतिक्रियावादी तथा सिकंदर जैसे जी-हजूरों के लिए दलाली करनेवाला मानते थे।

जिन्ना को एक नेता की तरह, जो अपने अनुयायियों का ध्यान रखता

है, अपने अनुयायियों में एकता और साथ ही लीग में अपना वर्चस्व बनाए रखना था। इसके लिए उन्होंने अपने पत्ते चल दिए कि यदि ब्रिटेन विश्वयुद्ध को सफलतापूर्वक लड़ना चाहता है, तो उसे मुस्लिम लीग को महत्व देना होगा।

जिन्ना का रुख कांग्रेस की अपेक्षा कहीं अधिक नरम और समझौतावादी था, जिसे लिनलिथगो 'पूरी तरह असंतोषजनक' नहीं मानता था। वायसराय इस कोशिश में था कि मुस्लिम समुदाय के सभी वर्ग विश्वयुद्ध में अंग्रेजों के समर्थन में खड़े हों।

कांग्रेस कार्यकारिणी ने 14 सितंबर, 1939 को निर्णय लिया कि विश्वयुद्ध और शांति के मुद्दे पर निर्णय भारतीय जनता द्वारा लिया जाना चाहिए, जो इस बात की कभी अनुमति नहीं देगी कि उसके संसाधनों का दोहन साम्राज्यशाही हितों के लिए किया जाए। कांग्रेस ने ब्रिटिश शासन से कहा कि वह लोकतंत्र और साम्राज्यशाही के संदर्भ में विश्वयुद्ध के लक्ष्य की असंदिग्ध रूप से घोषणा करे और बताए कि इन लक्ष्यों को विशेष रूप से भारत में किस तरह लागू किया जाएगा।

लिनलिथगो सोचता था कि ब्रिटिश शासन को इसका यह उत्तर देना चाहिए कि उसे इससे कोई सरोकार नहीं है कि किस देश में किस प्रकार की सरकार है। उसकी पहली प्राथमिकता राष्ट्रों के परस्पर व्यवहार में सद्भाव और विश्वास बनाए रखने की है, और दूसरे, उनके साथ की गई संधियों के पालन करने की है। यदि कांग्रेस हठ पकड़ती है, और यह स्पष्ट हो जाता है कि वह कांग्रेस मंत्रिमंडलों को उन आश्वासनों की कीमत या तत्काल दिए जाने वाली रियायतों पर ही जारी रखेगी, जिन्हें ब्रिटेन देने की स्थिति में नहीं है, तब ब्रिटेन को सभी पार्टियों की कांफ्रेस बुलानी होगी, जो कांग्रेस के भारत के बारे में बोलने के दावे के खोखलेपन को खोलकर रख देगी। दूसरे, ब्रिटेन सन् 1935 के एक्ट में कोई संशोधन नहीं करेगा। ब्रिटेन न तो लोकतंत्र के लिए लड़ रहा है और न उसने कभी ऐसा कोई वचन ही दिया है।

इसके बावजूद लिनलिथगो को अब भी उम्मीद थी कि वह विश्वयुद्ध के लिए कांग्रेस का समर्थन प्राप्त कर लेगा। कांग्रेस भारत में सबसे बड़ी, सबसे महत्वपूर्ण और नौ प्रांतों में शासन करने वाली उत्तरदायी पार्टी थी। यदि कांग्रेस ब्रिटेन के विरुद्ध हो जाए, जो बहुत स्वाभाविक है, तो वह ब्रिटेन के लिए कठिनाई पैदा कर सकती है। कांग्रेस की इस कठिनाई पैदा करने वाली क्षमता को भी

वह जानता था और यह भी जानता था कि कांग्रेस विश्वयुद्ध में भारत से अधिक-से-अधिक मिलने वाली ब्रिटिश क्षमता को पंगु बना सकती है। इसलिए वायसराय ने कांग्रेस का समर्थन पाने के लिए कुछ खतरा उठाना उचित समझा।

मुस्लिम लीग के 18 सितंबर के प्रस्ताव ने वायसराय को कांग्रेस की मांग का विरोध करने के लिए वह हथियार दे दिया, जिसकी उसे सबसे ज्यादा जरूरत थी। लीग ने प्रस्ताव दिया कि यदि वायसराय लीग के नेताओं को अपने विश्वास में ले और लीग को भारत के मुसमलानों की ओर से बोलने वाला एकमात्र संगठन स्वीकार करे, तो वह उसे अपना समर्थन देने को तैयार है। कांग्रेस के विपरीत लीग की एक स्वतंत्र, संयुक्त और लोकतांत्रिक भारत में कोई रुचि नहीं थी। प्रस्ताव में लीग का मानना था कि ऐसी व्यवस्था भारत के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त होगी, जिसमें बहुत-सी राष्ट्रीयता मिली हों और जो किसी एक राष्ट्रीय राज्य की स्थापना न करती हो।

लीग के इस प्रस्ताव का उद्देश्य यदि कांग्रेस और ब्रिटेन के बीच संभावित समझौते को विफल करना था तो लीग इसमें सफल रही। ब्रिटेन ने निश्चय कर लिया कि वह कांग्रेस को ऐसी कोई रियायत देने से बचेगी, जिससे लीग नाराज हो।

लीग के प्रस्ताव से कांग्रेस के अधिकतर नेताओं की समझ में नहीं आ रहा था कि वे क्या करें, फिर भी उन्होंने आशा बनाए रखी कि वे लीग को संयुक्त राष्ट्रवादी मंच पर ले आएंगे। इसके लिए उन्होंने अपने मंत्रिमंडलों के विरुद्ध लीग की शिकायतों की जांच के लिए एक इंपीरियल जांच बैठाने का प्रस्ताव किया, जिसे जिन्ना ने ठुकरा दिया। इसके बावजूद कांग्रेस के नेता साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे के लिए लीग का समर्थन और कांग्रेस-लीग के मतभेदों पर उसके साथ बात करने की कोशिश करते रहे। 16 और 18 अक्तूबर, 1939 को नेहरू और जिन्ना के बीच वार्ता हुई। स्पष्ट था कि दोनों के बीच मूल मतभेद ब्रिटेन के प्रति उनके रुख को लेकर था। जिन्ना नहीं चाहते थे कि कांग्रेस ऐसा कोई कदम उठाए जो अंग्रेजों के साथ संघर्ष को बढ़ाए। जिन्ना ने साफ-साफ कह दिया कि जब तक यह मुद्दा न निपट जाए, तब तक दूसरे मुद्दों पर बात करने का कोई प्रश्न ही नहीं है।

इससे ब्रिटिश शासन को प्रसन्नता ही हुई कि अब वह स्वतंत्रता देने के बारे में कांग्रेस को कोई वचन देगी, और लिनलिथगो ने यह कहते हुए कांग्रेस

की मांग को ठुकरा दिया कि अब वह अल्पसंख्यकों के हितों पर पूरा ध्यान देगा। अल्पसंख्यकों से उसका मतलब मुस्लिम लीग से था और जिन्ना यही तो चाहते थे। जिन्ना खुश हुए कि वायसराय ने कांग्रेस के इस दावे को ठुकरा दिया कि वह सभी भारतीयों का प्रतिनिधित्व करती है। इस पर लीग ने ब्रिटेन को मुस्लिम समर्थन और विश्वयुद्ध के दौरान सहयोग देने का आश्वासन दे दिया।

लिनलिथगो लीग के रवैये से खुश था, लेकिन वह जानता था जिन्ना अब कांग्रेस की कीमत पर मुस्लिम लीग की स्थिति बढ़ाएंगे। वह यह भी जानता था कि लीग की मुसलमानों के हितों के बचाव की मांग भारत पर ब्रिटिश नियंत्रण में किसी रियायत के साथ असंगत होगी। कांग्रेस नेताओं ने यह सही आरोप लगाया कि ब्रिटेन ने कांग्रेस-लीग के मतभेदों का इस्तेमाल कर, इसी बहाने से राजनीतिक समाधान में बाधा डाली। यही कारण था कि लिनलिथगो कांग्रेस के प्रति संतुलन बनाए रखने में अब लीग पर पूरी तरह निर्भर हो गया। 2 नवंबर, 1939 को लिनलिथगो ने यह कहते हुए राजनीतिक बढ़त के लिए जिन्ना के हाथों में वीटो का अधिकार दे दिया कि केंद्र में तब तक कोई समझौता नहीं होगा, जब तक दोनों पार्टियों में प्रांतों के बारे में समझौता न हो जाए। 8 नवंबर, 1939 को लिनलिथगो ने स्वयं भारत-मंत्री लॉर्ड जेटलैंड से कहा कि भारत को स्वाधीनता देने के बारे में लीग का रुख 'एकमात्र या अत्यंत महत्वपूर्ण' अवरोधक है इसलिए जिन्ना को साम्राज्यशाही के समर्थक के रूप में माना जा सकता है।

ब्रिटेन से स्वतंत्रता के बारे में कोई आश्वासन न मिलने पर कांग्रेस ने 30 अक्तूबर, 1939 को प्रांतीय मंत्रिमंडलों से त्यागपत्र देने का निर्णय लिया। यह जिन्ना के अनुकूल नहीं था, क्योंकि कांग्रेस के त्यागपत्र देने से लीग का कांग्रेस पर हमला करने का मुख्य हथियार—मुसलमानों की कांग्रेस मंत्रिमंडलों के विरुद्ध शिकायतों का आधार, ही छिन जाता।

जिन्ना ने कांग्रेस विरोधी भावनाओं को भड़काए रखने के लिए एक नई चाल चली। उसने कांग्रेस सरकारों से मुसलमानों के बचाव के लिए मुसलमानों से 22 दिसंबर, 1939 को 'बचाव दिवस' मनाने को कहा। हालांकि, 'बचाव दिवस' अधिकतर प्रांतों में औंधे मुंह गिरा, लेकिन इसने कांग्रेस के नेताओं को गुस्से से भर दिया, उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि लीग के साथ क्या और कैसे बात की जाए? लिनलिथगो जानता था कि कांग्रेस पर लीग

के आरोपों में कोई सचाई नहीं है, फिर भी वह चुप रहा, क्योंकि जिन्ना की चालों से कांग्रेस को कोई लाभ होने वाला नहीं था, वल्कि इससे ब्रिटेन को ही लाभ था। जिन्ना कांग्रेस के साथ किसी भी तरह के समझौते के लिए तैयार नहीं थे। 16 जनवरी, 1940 को जव लिनलिथगो ने जिन्ना से कहा कि उसका रवैया समझौते में बाधक बन रहा है तो जिन्ना ने विरोध करते हुए कहा कि 'अगर समझौता नहीं हो पा रहा है तो इससे आपका क्या नुकसान हो रहा है?'

मुस्लिम लीग : अलग मुस्लिम राज्य की मांग

इस समय तक संयुक्त मुस्लिम मोर्चे का भी कोई संकेत नहीं था। इसी पृष्ठभूमि में 23 मार्च, 1940 को मुस्लिम लीग ने एक अलग मुस्लिम राज्य की मांग रख दी। लाहौर के प्रस्ताव में 'पाकिस्तान' का उल्लेख नहीं था। उसमें कहा गया था :

> भौगोलिक रूप से जुड़ी सतत इकाइयां ... इन क्षेत्रों में सीमाबद्ध, जो ऐसी जुड़ी हों ... जिनका जरूरत होने पर क्षेत्रीय पुनर्संयोजन किया जा सके, वे क्षेत्र जिनमें मुसलमान संख्या में सबसे अधिक हों, जैसे कि भारत के उत्तर-पश्चिम और पूर्वी क्षेत्र, इनका समूह बनाकर एक स्वतंत्र राज्य का गठन किया जाए, जिसमें गठित इकाइयां स्वायत्त और संप्रभु हों।

हालांकि, यह पहली बार था कि किसी मुस्लिम पार्टी ने अपनी रणनीति में 'पाकिस्तान' शब्द को जोड़ा हो, लेकिन यह विचार नया नहीं था। मुस्लिमों के गृहदेश का काल्पनिक रूप भारत के उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व में संभव था। इसलिए नहीं कि अधिकतर मुसलमान इन मुस्लिम वहुल प्रांतों में रहते थे। हालांकि यह तथ्य है कि 60 प्रतिशत से अधिक मुसलमान मुस्लिम बहुल प्रांतों में रहते थे, लेकिन भौगोलिक संयोग से मुसलमानों की वहुसंख्या चार प्रांतों में थी। इन मुस्लिम वहुल क्षेत्रों के विना भी भारत में सांप्रदायिकता हो सकती थी, लेकिन यह अविश्वसनीय लगता है कि मुसलमानों के किसी वर्ग ने किसी गृहराज्य की मांग की हो।

'पाकिस्तान' शब्द सन् 1933 में चौधरी रहमत अली ने गढ़ा, जो कैम्ब्रिज का छात्र था। सन् 1939 की गर्मियों में सिकंदर हयात खां ने क्षेत्रीय अथवा संभागीय विधान सभाओं द्वारा सामान्य विपयों पर कार्य करने के लिए एक खुले संघ की योजना प्रकाशित की। सितंबर, 1939 में जिन्ना ने संघवाद के

राजनीतिक विकल्प के रूप में विभाजन की संभावना पर विचार किया। 4 मार्च को जिन्ना ने ब्रिटिश अधिकारियों को बताया कि विभाजन के बिना मुसलमान सुरक्षित नहीं रह सकेंगे, और यदि वे राजनीतिक अवरोध को नहीं सुलझा पाते हैं तो लीग के पास एकमात्र विकल्प किसी न किसी प्रकार का विभाजन ही रह जाएगा।

लाहौर में दिए भाषण से प्रतीत होता है कि जिन्ना के सामने एक संप्रभु पाकिस्तान की कल्पना स्पष्ट थी। लाहौर में उसने कहा था कि भारत में समस्या 'अंतर-सांप्रदायिक चरित्र की नहीं, बल्कि स्पष्ट रूप से एक अंतरराष्ट्रीय समस्या है, और उसे इसी रूप में लिया जाना चाहिए।' अंतरराष्ट्रीय से उनका शाब्दिक अर्थ–राज्यों के बीच जैसा था। पाकिस्तान की मांग लिनलिथगो की इस आलोचना का भी जवाब थी कि वह 'गैर-रचनात्मक' है और उस पर लगे इस आरोप की भी कि वह कांग्रेस की स्वाधीनता की मांग का इसलिए समर्थन नहीं कर रहा कि वह साम्राज्यशाही के साथ है। वैसे, यदि जिन्ना की यह मांग एक चाल थी तो चाल का उद्देश्य कुछ पाना या फिर किसी चीज को रोकना होना चाहिए। इसका उद्देश्य लीग को दरकिनार करने पर कांग्रेस-ब्रिटिश समझौते को रोकना रहा होगा। दूसरी ओर, यदि वह कुछ पाना चाहता था तो फिर संप्रभु पाकिस्तान ही क्यों नहीं? इससे मुसलमानों को 'हिंदुओं के अधिपत्य' से छुटकारा मिलता। इससे जिन्ना मुस्लिम बहुल प्रांतों में लीग के लिए समर्थन जुटा पाते, तथा सिकंदर हयात खां जैसे क्षेत्रीय नेता का, जो पाकिस्तान की मांग का विरोध कर रहे थे, राजनीतिक आधार को खिसका सकते थे। जिन्ना ने चालाकी से पूरी तरह हिसाब-किताब लगा रखा था कि पाकिस्तान की संभावना को ब्रिटेन रद्द कर ही नहीं सकेगा, क्योंकि यही तो कांग्रेस की स्वतंत्रता की मांग को ठुकराने में अंग्रेजों की मदद करेगा।

अगस्त, 1940 का प्रस्ताव

लिनलिथगो अब भी कांग्रेस का समर्थन चाहता था। अतः उसने 4 अगस्त, 1940 को एक नया प्रस्ताव किया, लेकिन इस प्रस्ताव में राष्ट्रीय सरकार का कोई प्रावधान या स्वाधीनता का कोई वायदा नहीं किया गया। इससे निराश हो कांग्रेस ने प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

इसी दौरान ब्रिटेन ने लीग को यह आश्वासन दिया कि भविष्य में होने

वाले किसी भी संवैधानिक विचार-विमर्श में अल्पसंख्यकों के बारे में वह लीग से परामर्श लेगा। इस प्रस्ताव में ब्रिटेन ने यह भी कहा कि वह अपने उत्तरदायित्वों को किसी ऐसी सरकार को हस्तांतरित नहीं करेगा, जिसे 'व्यापक जनाधार और भारत के राष्ट्रीय जीवन में एक शक्तिशाली तत्व', जिसका मतलब लीग से था, का समर्थन प्राप्त न हो। जिन्ना ने यह भी मांग की कि ब्रिटेन लीग को सत्ता में 'पूरी और एक समान बराबर की भागीदारी' दे। लिनलिथगो ने इसे अतार्किक माना क्योंकि, यदि लीग मुस्लिम बहुल प्रांतों में सत्ता प्राप्त कर लेती है तो वह अंग्रेजों के लिए कहीं और अधिक कठिनाइयां पैदा करेगी तथा जिन्ना अंग्रेजों से और अधिक राजनीतिक रियायतें पाने के लिए सौदेबाजी करेंगे। साथ ही पंजाब में अंग्रेजों तथा यूनियनिस्टों के बीच जो सहयोग है, उसमें व्यवधान डालेंगे।

लीग ने अगस्त के प्रस्ताव को रद्द कर दिया क्योंकि, इसमें विश्वयुद्ध में सहयोग देने के बदले में, उसे केंद्र तथा प्रांतों में 'बराबर की भागीदारी' नहीं दी गई थी। लीग के बराबरी और मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि होने की मांग के पीछे का तर्क जिन्ना के संप्रभु मुस्लिम राज्य की मांग की गंभीरता को दर्शाना था। ब्रिटेन से बराबरी की रियायत मिलने का मतलब ब्रिटेन द्वारा मुसलमानों के राज्य के दावे को स्वीकार करना तथा लीग को कांग्रेस के बराबर मानने का मतलब, सत्ता हस्तांतरण को बिगाड़ने में बराबरी का दावा होता। विपरीत स्थिति में, यदि ब्रिटेन दावे को मान लेता कि मुसलमान एक राष्ट्र थे, तो उसे उसी के अनुसार उन्हें बराबरी देनी पड़ती। प्रस्ताव को जिन्ना ने दबाव डालकर लीग की कार्यकारिणी से रद्द करा दिया, जबकि कार्यकारिणी इस प्रस्ताव को स्वीकार करना चाहती थी। जिन्ना की चेतावनी से कार्यकारिणी को झुकना पड़ा, क्योंकि पूरी तरह से अंग्रेजों को सहयोग देने का मतलब भारत के ब्रिटिश शासन को बचाने की सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेना, कांग्रेस को कुचलना, विश्वयुद्ध के लिए जन और धन के संसाधनों को उपलब्ध कराना था जिससे प्रशासन को चलाने का भार ब्रिटेन और लीग पर आ जाता। यदि कांग्रेस सहयोग देना तय कर लेती है तो ब्रिटेन पाकिस्तान की योजना को निरस्त कर सकता है। इस तरह जिन्ना ने लीग को सलाह दी कि वह जितनी अधिक-से-अधिक रियायतें संभव हो सके, लेने को ध्यान में रखते हुए धीरज बनाए रखे। जिन्ना की यही ताकत थी कि वह अपनी

बात मनवा लेते थे और इसी से वह लीग पर अपना अधिकार बनाए हुए थे।

ये प्रकरण, पहली बात तो यह बताते हैं कि लिनलिथगो के लिए लीग से संबंध बनाए रखना इसलिए जरूरी था कि इससे वह अखिल भारतीय स्तर पर कांग्रेस से प्रतिसंतुलन बनाए रखे, लेकिन इसका मतलब यह जरूरी नहीं था कि लिनलिथगो या ब्रिटिश गवर्नर मुस्लिम बहुल प्रांतों में लीग को सत्ता में चाहते थे विशेषकर पंजाब में, जहां विश्वयुद्ध के लिए सफलतापूर्वक कार्य कर रहे संगठन को लीग गड़बड़ा सकती थी। इसलिए वायसराय स्वयं केंद्र और प्रांतीय स्तरों पर लीग के साथ अलग-अलग नीतियां अपना रहा था।

दूसरी बात, प्रांतीय मुस्लिम राजनीति में जिन्ना का प्रत्यक्ष प्रभाव कोई अधिक नहीं था। उसका प्रभाव केवल प्रांतों में चालें चलकर विभिन्न गुटों की आपसी प्रतिद्वंद्विता से लाभ उठाने पर निर्भर करता था।

तीसरा, स्पष्टतः लिनलिथगो के लिए यह कोई विशेष अर्थ नहीं रखता था कि जिन्ना कांग्रेस का विरोध करने की अपेक्षा विश्वयुद्ध के प्रयासों में पूरी तरह से सहयोग नहीं दे रहे। वायसराय जिन्ना की सौदेबाजी की चालों से निराश था लेकिन वह इसे जिन्ना की झांसेबाजी मानने को तैयार नहीं था। लीग ही केवल अखिल भारतीय स्तर पर कांग्रेस से प्रतिसंतुलन बनाए हुए थी। सिकंदर हयात खां विश्वयुद्ध के प्रयासों के समर्थन में थे लेकिन उनमें दृढ़ता नहीं थी, जिसके बारे में लिनलिथगो ने नए भारत-मंत्री लॉर्ड एमेरी को 1 सितंबर, 1941 को लिखा कि 'मैं छोटे शेर का शिकार करने के खिलाफ नहीं हूं, लेकिन मैं इस तरह के खेल में उतरने से पहले अपने साथियों के निष्ठावान होने और उनके अच्छे कार्यों के महत्व को भी जोड़ना चाहता हूं।'

6

मुस्लिम लीग ने बढ़त ली : 1942-45

6 दिसंबर, 1941 को पर्ल हार्बर पर हुए जापानी हमले के बाद ब्रिटेन अमेरिका के दबाव में आ गया कि वह विश्वयुद्ध के प्रयासों में अधिक-से-अधिक राजनीतिक समर्थन पाने के लिए भारत में नई राजनीतिक पहल पर विचार करे। इसलिए उसे अमेरिका को दिखाना था कि वह भारत में राजनीतिक गतिरोध को खत्म करने के लिए सवैधानिक कदम उठा रहा है। प्रांतों से आने वाली उन रिपोर्टों से वॉर कैबिनेट निराश थी, जिनमें ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं के कहीं अधिक व्यापक रूप से फैलते जाने का जिक्र था, फिर भी ब्रिटेन ने कांग्रेस को वे राजनीतिक बढ़तें नहीं दीं, जिनकी वह मांग कर रही थी।

जिन्ना और मुस्लिम लीग ने, जिसे हमेशा यह डर बना रहता था कि उनकी उपेक्षा की जा सकती है, ब्रिटेन को आश्वस्त किया कि वह कांग्रेस की स्वाधीनता की मांग का विरोध करेगी। अप्रैल, 1941 के लीग के अधिवेशन में अपना अध्यक्षीय भाषण देते हुए जिन्ना ने स्पष्ट कर दिया कि इस महाद्वीप में 'पाकिस्तान का दर्जा एक स्वतंत्र राष्ट्र और एक स्वतंत्र राज्य' का होगा। लीग के प्रांतीय नेता जिन्ना से सहमत नहीं थे। वे रक्षा संबंधी व सामान्य मामलों में पाकिस्तान को भारत संघ में रखना चाहते थे, बशर्ते हिंदू-मुसलमान दोनों को बराबरी का अधिकार प्राप्त हो।

ब्रिटेन ने आत्मतुष्ट होते हुए इसका अर्थ यह लिया कि कांग्रेस को कोई भी रियायत देने की संभावना को लीग का रुख रोके रखेगा। उसका विचार था कि प्रतिरक्षा तंत्र में कांग्रेस को शामिल करने से युद्ध के लिए किए जा रहे प्रयासों को धक्का पहुंचेगा पर वह बहुत मासूमियत से यह भूल गई कि

कांग्रेस का विरोध युद्ध से नहीं, वल्कि उसको युद्ध के बारे में कोई दायित्व न दिये जाने से है।

कांग्रेस के साथ समझौते के लिए जिन्ना में कोई उत्सुकता नहीं थी। फिर ब्रिटेन ने भी लीग के इस विश्वास को पक्का कर दिया था कि वह सत्ता या शक्ति का हस्तांतरण तो करेगा ही, तब फिर लीग आगे बढ़कर कांग्रेस से क्यों समझौता करे?

क्रिप्स प्रस्ताव : मार्च, 1942

21 फरवरी को रंगून और 8 मार्च, 1942 को सिंगापुर की पराजय ने वॉर कैबिनेट को इस बात पर विचार करने के लिए बाध्य कर दिया कि वह भारत में राजनीतिक परिवर्तन के लिए किए जा रहे प्रयासों का दिखावा करे। इसलिए चर्चिल ने वॉर कैबिनेट में तत्कालीन लॉर्ड प्रिवी सील, सर स्टैफोर्ड क्रिप्स को एक घोषणा-पत्र इस मसौदे के साथ भेजा, जिसमें भारत को डोमिनियन स्टेटस देने का प्रस्ताव किया गया था। और उसे यह छूट दी गई थी कि युद्ध समाप्त होने के बाद यदि वह चाहे तो ब्रिटिश साम्राज्य से अपना नाता तोड़ भी सकता था। क्रिप्स प्रस्ताव में यह व्यवस्था थी कि प्रांतीय विधानमंडलों के चुनाव विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद कराए जाएंगे। निचले सदनों के चुनाव एकल मतदान पद्धति से होंगे और वे अनुपात के अनुरूप प्रतिनिधित्व के आधार पर संविधान बनाने वाली सभा का चुनाव करेंगे। प्रांतों के विधानमंडलों को यह अधिकार होगा कि वे चाहें तो संघ से अलग होकर अपना संविधान स्वयं बना सकते हैं।

इस प्रकार क्रिप्स का यह प्रस्ताव सत्ता हस्तांतरण से पहले ही भारत का विभाजन किए दे रहा था। विश्वयुद्ध के बाद के होने वाले संवैधानिक निपटारे के लिए ब्रिटिश सरकार ने सन् 1935 के एक्ट को एक ही झटके में निरस्त कर दिया। क्रिप्स प्रस्ताव में ब्रिटेन ने पहली बार स्पष्ट किया कि सत्ता हस्तांतरण में शामिल मुख्य पार्टियां कांग्रेस और मुस्लिम लीग ही होंगी। इससे लीग की पाकिस्तान की मांग को मान्यता देते हुए उसे सैद्धांतिक रूप से क्रिप्स के प्रस्ताव में शामिल कर लिया गया था।

ब्रिटेन को आश्चर्य हुआ कि क्रिप्स के प्रस्ताव में कांग्रेस ने रुचि प्रदर्शित की और उसे कार्यान्वित करना चाहा। क्रिप्स प्रस्ताव में पाकिस्तान की मांग को किसी हद तक मान लिए जाने पर जिन्ना स्वयं भी चकित थे। वह इस

प्रस्ताव के अंतर्गत बननेवाली किसी भी सरकार में भाग लेने के लिए तैयार दिखाई दे रहे थे। लगता था कि समझौता हो जाएगा लेकिन नहीं हो सका, भारतीय राजनीतिक पार्टियों के रुख के कारण नहीं बल्कि चर्चिल के कारण, जिसने किसी भी प्रकार के उस राजनीतिक उदारीकरण से इनकार कर दिया, जिसे वह ब्रिटिश साम्राज्य के विघटन के समान मानकर चल रहा था। इस तरह क्रिप्स प्रस्ताव लटक गया क्योंकि चर्चिल के नेतृत्व में कंजर्वेटिव सरकार ने समझौता नहीं होने दिया, जबकि इसके आधार पर समझौता होता दिखाई दे रहा था।

क्रिप्स प्रस्ताव ने जिन्ना को यह भी सिखा दिया कि कांग्रेस से समझौता न करने में ही उसे लाभ है। प्रांतों को यह अधिकार दिए जाने से कि वे संघ से अलग रह सकते हैं, क्रिप्स के इस प्रस्ताव ने लीग की इस उम्मीद को बढ़ा दिया कि यदि विश्वयुद्ध के बाद सत्ता का हस्तांतरण हुआ तो उस समय पाकिस्तान सामने झलक रहा होगा।

दरअसल, क्रिप्स के प्रस्ताव से पाकिस्तान एक कदम और आगे बढ़ गया। अंग्रेजों ने इसे स्वयं ही मान्यता दे दी थी। इधर सांप्रदायिक तनाव बढ़ने लगा। अनेक प्रांतों में सांप्रदायिक संगठनों ने खुले तौर पर, अपने-अपने समुदायों की रक्षा के लिए स्थानीय स्तर पर स्वयंसेवकों को संगठित करना शुरू कर दिया। सी. राजगोपालाचारी जैसे कांग्रेस के एक दक्षिण पंथी बड़े नेता ने अप्रैल, 1942 में पाकिस्तान की संभावना को स्वीकार करते हुए एक योजना सामने रखी, जिससे गांधी जी को बेहद निराशा हुई। हालांकि, राजगोपालाचारी की योजना को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने अस्वीकार कर दिया, लेकिन कांग्रेस के ही एक बड़े नेता द्वारा सिद्धांत रूप में पाकिस्तान की मांग को मानने की बात जनता में फैल गई। इससे सांप्रदायिक भावनाएं और उग्र हो उठीं।

राजगोपालाचारी की योजना से सिख नेताओं में भी निराशा छा गई। वे सोचने लगे कि कांग्रेस को मुस्लिम लीग के हाथों बेच दिया गया है। इसलिए जून, 1942 में अकाली दल, जिसका नेतृत्व बलदेव सिंह कर रहे थे, ने सिकंदर हयात खां और उनकी यूनियनिस्ट पार्टी, जो पंजाब या भारत के किसी भी विभाजन के विरुद्ध थी, के सामने अपनी शर्तें रखीं। सिखों में इस बात पर बेचैनी थी कि उनके भावी राजनीतिक दर्जे के बारे में ब्रिटेन, कांग्रेस या लीग से किसी भी प्रकार का कोई आश्वासन नहीं मिला है। पंजाब सिखों की मातृभूमि

थी हालांकि, वे पंजाब के हरेक जिले में अल्पसंख्यक थे। लेकिन वे पंजाब को किसी पृथक मुस्लिम राज्य में शामिल किए जाने के विरोध में थे। उनके एक नेता तारा सिंह ने तो चेतावनी भी दे दी कि यदि 'पाकिस्तान' की कल्पना को साकार किया गया तो पंजाब में गृहयुद्ध छिड़ जाएगा।

कांग्रेस का आह्वान : अंग्रेजो भारत छोड़ो

अखिल भारतीय स्तर पर अंग्रेज अधिकारियों ने भांप लिया कि अधिकतर भारतीय राजनीतिक दलों में क्रिप्स मिशन के असफल हो जाने से गहरी हताशा है। लेकिन लिनलिथगो कांग्रेस के आंतरिक विभाजन से संतुष्ट थे। उन्होंने भांप लिया था कि कांग्रेस इस समय कठिन परिस्थिति में है, जिसे अव कोई दिशा नहीं सूझ रही है। कांग्रेस की यह हताशा 14 जुलाई, 1942 को कार्यकारिणी समिति के प्रस्ताव--गांधी जी के अंग्रेजों के खिलाफ खुले विद्रोह के आह्वान के रूप में सामने आई।

अंग्रेज समझ नहीं सके कि गांधी जी का यह खुले विद्रोह का आह्वान कितना गंभीर था। इसकी तैयारी के वारे में उन्हें जो थोड़ी-बहुत सूचनाएं मिली थीं, जिनका संबंध टैक्स न चुकाने या किराया न देने और सिविल अवज्ञा का आंदोलन चलाए जाने से था। लेकिन अंग्रेज 8 अगस्त के अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यकारिणी के प्रस्ताव को लेकर भौंचक्के रह गए, जिसमें 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' का नारा दिया गया था। अंग्रेजों ने इसके अगले दिन इस उम्मीद में कांग्रेस के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया कि नेताओं के गिरफ्तार होने से कोई भी आंदोलन शुरू होने से पहले ही अपने आप खत्म हो जाएगा। लेकिन तीन दिन बाद अंग्रेज हक्के-बक्के रह गए, जब नेताओं के बिना ही कांग्रेस समर्थकों की असंगठित भारी भीड़ देश के विभिन्न भागों में विद्रोह पर उतारू हो गई। ब्रिटिश सैन्य गुप्तचर सूत्रों के अनुसार ये उपद्रव कांग्रेस के लोकप्रिय नेताओं के गिरफ्तार किए जाने की प्रतिक्रिया में स्वाभाविक रूप से हुए, और इनके बीच किसी प्रकार का कोई आपसी तालमेल नहीं था।

दूसरे शब्दों में, कांग्रेस नेताओं की गिरफ्तारी से नागरिकों का स्वयं ही एक बहुत भारी विद्रोह भड़क उठा। 31 अगस्त को लिनलिथगो ने चर्चिल को सूचित किया कि 'सन् 1857 के बाद के सबसे भयानक विद्रोह का सामना मैं कर रहा हूं, जिसकी गंभीरता और व्यापकता को हम सैन्य सुरक्षा के कारणों

से दुनिया की निगाहों से छिपाए हुए हैं।'

सन् 1942 की घटनाओं ने दिखा दिया कि जनता की राष्ट्रीय आकांक्षा कितनी प्रबल थी। इस विद्रोह को कुचलने के लिए अगस्त और सितंबर में सेना की 57 बटालियनें लगाई गईं, जिनमें से 24 तो वे थीं जिन्हें युद्ध के प्रशिक्षण के बीच से बुलाया गया था। उत्तर-मध्य बिहार और पूर्वी संयुक्त प्रांत के अधिकांश भागों में प्रशासन पूरी तरह से टूट चुका था। बिहार के गवर्नर द्वारा भेजी जाने वाली पाक्षिक रिपोर्ट अगस्त के महीने में दिल्ली नहीं भेजी जा सकी, क्योंकि संचार के सभी साधन ध्वस्त हो चुके थे। रेलों को बाधित अथवा तोड़-फोड़ दिया गया था, टेलीफोन के तार काट दिए गए थे। उड़ीसा के कई रेलवे स्टेशनों को इसलिए सुरक्षित घोषित नहीं किया जा सका, क्योंकि उनकी सुरक्षा के लिए सशस्त्र बल उपलब्ध ही नहीं थे। बंबई में कोड़े लगाने वाले कानून को फिर से लागू कर दिया गया और संबंधित वॉर कैबिनेट को इस बारे में सूचित कर दिया गया कि इस गंभीर स्थिति में यह शारीरिक दंड ही सबसे मामूली सजा हो सकती है।

सन् 1943 के शुरू होने तक भारत छोड़ो आंदोलन को दबा दिया गया, लेकिन अंग्रेज जान गए कि विश्वयुद्ध में भारतीय उनका साथ नहीं देंगे। और न अंग्रेज अधिकारी इन सूचनाओं को प्राप्त कर हर्षित हो पाए कि जेल में नेहरू और उनके मित्र बड़े मजे में हैं और बैडमिंटन खेलकर आनंद उठा रहे हैं।

अंग्रेजों के सामने उनकी लंबे समय से चली आ रही समस्या उनके द्वारा भारत छोड़ने के इरादे को लेकर थी। जिन्ना ने कांग्रेस के आंदोलन को बहुत खतरनाक बताया, क्योंकि कांग्रेस बंदूक की नोक पर अपनी मांगें मनवाना चाहती थी। यदि अंग्रेजों द्वारा कांग्रेस की मांगें मान ली जाती हैं तो इसका अर्थ मुसलमानों के हितों की बलि होगी। इसलिए जिन्ना ने मुसलमानों से अपील की कि वे कांग्रेस के आंदोलन से बिलकुल दूर रहें। प्रांतीय लीगी नेताओं ने जिन्ना की बात मानी और उन्होंने अपने प्रभाव का उपयोग भारत छोड़ो आंदोलन से मुसलमानों को अलग रखने में किया।

भारत छोड़ो आंदोलन की एक अत्यंत उल्लेखनीय विशेषता यह रही कि कहीं भी कोई सांप्रदायिक घटना या अव्यवस्था नहीं हुई। हालांकि, आमतौर पर मुसलमान आंदोलन से दूर रहे लेकिन अंग्रेज अधिकारियों को इस बात

से बहुत निराशा हुई कि उपद्रवियों, जिनमें अधिकांश हिंदू थे, के खिलाफ गवाही देने के लिए बहुत ही कम मुसलमान आगे आए।

अंग्रेजों ने पाकिस्तान की मांग को प्रोत्साहित किया

कांग्रेस और उसके समर्थक जिस व्यापक पैमाने पर सिविल अवज्ञा आंदोलन छेड़े हुए थे, उसने ब्रिटिश साम्राज्य की नींवें हिला दी थीं। ऐसे में लिनलिथगो ने गवर्नरों को सलाह दी कि अपने-अपने प्रांतों में गैर-कांग्रेसी सरकारें बनाने की संभावनाओं की तलाश करें, जिसके दुष्प्रचार से कांग्रेस के प्रति संतुलन बनाया जा सके। इसका नतीजा यह हुआ कि मुस्लिम बहुल प्रांतों में लीग की सरकारें बन गईं। इस तरह लीग की स्थिति को इस हद तक मजबूत बनाने और पाकिस्तान के विचार को बढ़ावा देने के लिए अंग्रेज ही उत्तरदायी हैं।

लिनलिथगो ने सिंध में अल्लाह बख्श को प्रधानमंत्री पद से हटा दिया, क्योंकि उन्होंने अपनी उपाधियां वापस कर दी थीं और दूसरे, उनके मंत्रिमंडल ने विश्वयुद्ध के कार्यों के लिए मरे मन से काम किया था। प्रांतीय लीगी नेताओं ने जी.एच. हिदायतुल्ला के नेतृत्व में बनने वाले नए मंत्रिमंडल में जिन्ना की इच्छा के विरुद्ध सम्मिलित होने का निर्णय लिया, लेकिन हिदायतुल्ला उन्हें आश्चर्य में डालते हुए खुद लीग में शामिल हो गए। शायद, उन्हें सिंध में कांग्रेस द्वारा अपने ऊपर दवाव डाले जाने का डर था। उनके हिंदू मंत्री उनके गठबंधन को छोड़ सकते थे। ऐसी स्थिति में उन्हें अपने प्रधानमंत्री पद को बचाए रखने के लिए लीग में शामिल होना ही उचित लगा।

लीग ने सत्ता में आते ही सिंध में अपने संगठन को आगे बढ़ाया। मार्च, 1943 तक उसने अकेले थार पक्कड़ जिले में लगभग 30,000 सदस्य बनाए। उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में अगस्त, 1942 में कांग्रेस के 21 में से 8 विधायकों को गिरफ्तार किए जाने से प्रांतीय विधान सभा में बहुमत घट गया, और मुस्लिम लीग के मंत्रिमंडल के गठन का रास्ता खुल गया। लेकिन प्रांत के लीगी नेताओं के आपसी मतभेदों को देखते हुए प्रांत के गवर्नर कनिंघम लीग मंत्रिमंडल बनाने के लिए उत्साहित नहीं लगे। अकाली और हिंदू महासभा तथा उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत के लीगी नेता औरंगजेब के बीच चलीं लंबी समझौता वार्ताओं के बाद लीग ने अकालियों के साथ गठबंधन करके सरकार बनाई, लेकिन उसे प्रांतीय विधानमंडल के 43 सदस्यों में से 19 का ही समर्थन

प्राप्त रहा।

बंगाल में लीग मंत्रिमंडल का गठन गवर्नर की कृपा से ही संभव हो सका। गवर्नर हरबर्ट भारत छोड़ो आंदोलन के शुरू होते ही फज्लुल हक के मंत्रिमंडल के तौर-तरीकों और उसके विश्वयुद्ध संबंधी सहायता से संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने हक के मंत्रिमंडल को यह बहाना बनाकर निरस्त कर दिया कि बंगाल विधानमंडल में हक अपना विश्वास खो सकते हैं। हक भी कई बार यह कह चुके थे कि यदि उन्हें विश्वास मत नहीं मिला तो वे त्यागपत्र दे देंगे। हरबर्ट ने अप्रैल, 1943 को ख्वाजा नाजिमुद्दीन के नेतृत्व में लीग मंत्रिमंडल को सत्तारूढ़ कर दिया। नाजिमुद्दीन को बंगाल मंत्रिमंडल में यूरोपियन सदस्यों का समर्थन प्राप्त था और विधानमंडल में कोई भी मुसलमान सदस्य ऐसा नहीं था जो लीगी न हो। नाजिमुद्दीन ने गर्वनर से यह भी वायदा किया कि वह विश्वयुद्ध के लिए हर तरह से मदद देगा।

नाजिमुद्दीन मंत्रिमंडल द्वारा विश्वयुद्ध के लिए दी जा रही सहायता से जिन्ना संभवतः खुश नहीं थे, लेकिन वह नाजिमुद्दीन के खिलाफ कुछ कर भी नहीं सकते थे। लेकिन उनका यह मानना था कि बंगाल में लीग मंत्रिमंडल के गठन ने लीग की प्रतिष्ठा को धक्का पहुंचाया है।

दिसंबर, 1943 में जिन्ना ने पांच से सात सदस्यों की एक कार्यवाही समिति बनाई, जिसका काम समूचे भारत के मुसलमानों को संगठित कर उन्हें हर तरह की अप्रत्याशित घटनाओं का सामना करने के लिए तैयार करना था, संयुक्त भारत के लिए बनने वाले किसी भी संविधान का प्रतिरोध करना था, और पाकिस्तान को हासिल करने के संघर्ष हेतु मुसलमानों को तैयार करना था। यह कहना कठिन है कि यह कार्यवाही समिति प्रांतीय लीगों पर अपना कितना प्रभाव डाल सकी। इस कार्यवाही समिति का उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत की लीग से कोई संपर्क ही नहीं रहा। वैसे भी स्वयं जिन्ना की प्रांतों की राजनीति में कोई ज्यादा रुचि नहीं थी, उन्होंने तो अपना ध्यान अखिल भारतीय स्तर पर अपनी प्रतिष्ठा और लीग की स्थिति को सुदृढ़ करने पर केंद्रित कर रखा था। प्रांतों में गैर-मुस्लिम या गैर-लीगी मुस्लिम पार्टियों के गठबंधन उसे सभी मुसलमानों के प्रतिनिधि होने के उसके दावे को झुठला सकते थे। यही कारण था कि जब कोई लीगी किसी गैर-लीगी मुसलमान पार्टी से तालमेल बढ़ाती तो जिन्ना जबर्दस्त विरोध कर उठते।

जिन्ना की पंजाब पर अधिकार जमाने की कोशिश

जिन्ना ने पंजाब में लीगी मंत्रिमंडल बनाने के लिए नवंबर, 1942 में एक अनोखा और अभूतपूर्व अभियान छेड़ा। उन्होंने पंजाब का दौरा करके वहां की राजनीति में हलचल मचा दी। पाकिस्तान की वकालत करते हुए उन्होंने सिखों को एक उप-राष्ट्रिक यानी कौम बताकर यूनियनिस्टों के साथ सिखों के गठबंधन को गड़बड़ा दिया। जिन्ना के रुख और अपनी स्थिति पर आए खतरे से घबराकर सिकंदर हयात खां ने घोषणा कर दी कि उनका दृष्टिकोण 'पाकिस्तान के चैम्पियन' के दृष्टिकोण से अलग नहीं है। सिकंदर-जिन्ना समझौते ने बलदेव सिंह के साथ हुए गठबंधन की नींव हिला दी तथा पंजाब में सांप्रदायिक तनाव को और बढ़ा दिया। सिखों ने सिकंदर को बलदेव सिंह के साथ हुए गठबंधन का सम्मान न करने और मुस्लिम परस्त होने का दोषी ठहराया।

लोकप्रियता के स्तर पर लीग पंजाब में अपनी जन सभाओं में अधिक भीड़ नहीं जुटा सकी, लेकिन सिकंदर हयात खां की दिसंबर, 1942 में हुई मौत से यूनियनिस्टों को गहरा आघात लगा, साथ ही अंग्रेजों को भी, क्योंकि पंजाब से विश्वयुद्ध के लिए उनसे बहुत मदद मिल रही थी, जिसके लिए अंग्रेजों ने उनकी सराहना भी की थी। पंजाब ही केवल ऐसा प्रांत था जिसमें मुसलमान बहुसंख्यक थे और विश्वयुद्ध छिड़ने के बाद से पंजाब सांप्रदायिक संघर्ष तथा मंत्रिमंडलों के बार-बार के बदलाव से बचा रहा था। सिकंदर की मृत्यु के बाद जिन्ना की कोशिश थी कि यूनियनिस्ट पार्टी के नए नेता के चुनाव में उनकी बात मानी जाए, लेकिन जिन्ना की नहीं चली और खिजर हयात खां टिवाणा नेता बने और उन्होंने मार्च, 1943 में दिल्ली में हुए अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के अधिवेशन में जिन्ना के खिलाफ अपनी स्थिति मजबूत बनाए रखी। उन्होंने सन् 1942 में हुए सिकंदर-जिन्ना समझौते के प्रति अपनी प्रतिबद्धता जताई, लेकिन वह कोशिश करके भी पंजाब में लीग पार्टी के गठन को रोक नहीं सके।

जिन्ना और खिजर के बीच विवाद उस समय और बढ़ गया जब जिन्ना ने मांग की कि खिजर मंत्रिमंडल को 'मुस्लिम लीग गठबंधन' के रूप में जाना जाए। खिजर ने जिन्ना को जवाब देते हुए कहा कि वे सिकंदर-जिन्ना समझौते का पालन करेंगे और मंत्रिमंडल का नाम 'यूनियनिस्ट' ही रहेगा, दूसरा, यह

कि वह खुद यूनियनिस्ट पार्टी की टिकट पर जीते हैं। इस पर जिन्ना नाराज तो बहुत हुए, लेकिन उनकी समझ में यह बात भी आ गई कि पंजाब विधानमंडल में उनका बहुमत नहीं है।

फरवरी, 1944 में नए वायसराय लार्ड वेवेल द्वारा की गई भारत की एकता की टिप्पणी तथा पंजाब विधानमंडल के अंतर-सांप्रदायिक गठबंधन की सफलता की सराहना से जिन्ना खिजर के खिलाफ बिफर पड़े। वेवेल ने कहा, "भूगोल, प्रतिरक्षा, वैदेशिक संबंधों तथा अनेक आंतरिक एवं बाह्य आर्थिक समस्याओं की दृष्टि से भारत एक 'प्राकृतिक इकाई' है। सांप्रदायिक सह-अस्तित्व इस देश की एक सचाई है। भारतीयों द्वारा गठबंधन की सरकारें केंद्र और पंजाब में कार्य कर सकती हैं।" उन्होंने यूनियनिस्ट नेताओं की 'संवेदनशील, सद्भावी और साहसी' व्यक्तियों के रूप में प्रशंसा की, जिन्होंने पंजाब का प्रशासन भारत के हित में चलाया और विश्वयुद्ध में उल्लेखनीय योग दिया है।

यूनियनिस्टों ने वायसराय वेवेल द्वारा की गई अपने प्रशासन की सराहना का स्वागत किया, लेकिन जिन्ना ने इस पर वायसराय को अपनी नाराजगी जतला दी और जन संपर्क के अपने महत्वाकांक्षी अभियान को पंजाब में यह कहते हुए छेड़ दिया कि यूनियनिस्ट तो केवल जमींदार वर्ग की पार्टी है, जबकि मुस्लिम लीग समूचे मुस्लिम राष्ट्र की संरक्षक तथा ट्रस्टी है।

सन् 1942 और 1945 में लीग की प्रतिष्ठा अंग्रेजों तथा कांग्रेस की वजह से और बढ़ी। अंग्रेजों ने अपनी रणनीति के अंतर्गत अखिल भारतीय स्तर पर मुसलमानों की ओर से बोलने के लीग के दावे को मान्यता दे दी। क्रिप्स प्रस्ताव में मुस्लिम बहुल प्रांतों पर लीग के अधिकार को मान लेने की बात ने पाकिस्तान की संभावना को और बढ़ा दिया। सिंध और बंगाल में क्रमशः अक्तूबर, 1942 और मार्च, 1943 तक जो मंत्रिमंडल कार्य कर रहे थे, उनकी जगह अंग्रेज अधिकारियों के कारण लीगी मंत्रिमंडल सत्ता में आ गए। फिर भी अंग्रेजों द्वारा यूनियनिस्टों को जिन्ना के न चाहते हुए भी दिया गया समर्थन यह बताता है कि अंग्रेज नहीं चाहते थे कि लीग सभी मुस्लिम बहुल प्रांतों में शासन करे, क्योंकि अंग्रेजों के लिए सबसे महत्वपूर्ण था विश्वयुद्ध के लिए अधिक से अधिक सहयोग जुटाना। पंजाब के गवर्नर सर बरट्रेंड ग्लेंसी ने 6 अप्रैल, 1944 को वायसराय वेवेल को गोपनीय पत्र में स्पष्ट लिखा था कि जिन्ना पाकिस्तान का प्रचार इस तरह कर रहे हैं जैसे कि सारी बीमारियों की रामबाण दवा

पाकिस्तान ही हो, लेकिन वह इसकी कोई तर्कसंगत व्याख्या करने से बच रहे हैं कि वह कहां से शुरू होगा और कहां खत्म होगा और इससे क्या लाभ होगा। 'जिन्ना एक तोड़फोड़ गिराऊ दस्ते के आदर्श लीडर हो सकते हैं, क्योंकि कोई भी रचनात्मक सुझाव उन्हें अपनी आदत के अनुसार विदेशी दिखाई देता है।'

अंग्रेजों की तरह कांग्रेस के नेता भी सन् 1942 और 1944 में पाकिस्तान के सिद्धांत को बिना इस बात की चिंता किए मान्यता देते रहे कि जिन्ना की स्थिति मुस्लिम बहुल प्रांतों में भी अत्यंत कमजोर है। सन् 1944 की गर्मियों में गांधी जी ने जिन्ना से अपनी वार्ता में पाकिस्तान के सिद्धांत को संभवतः इस आशा में मान लिया कि वह जिन्ना के संयुक्त स्वतंत्र भारत में कांग्रेस के वर्चस्व के डर को निकाल देंगे। लेकिन गांधी जी के इस सद्भावना प्रयास का कोई नतीजा नहीं निकला। जिन्ना ने इसी बात को बार-बार दोहराया कि देश के, हिंदुस्तान और पाकिस्तान में, बंटवारे को मान लेना ही समस्या का एकमात्र समाधान है। इस तरह अंग्रेजों और कांग्रेस के नेताओं ने पाकिस्तान की मांग को वास्तविकता प्रदान की और अपरोक्ष रूप से लीग के कद को अखिल भारतीय स्तर पर पहुंचा दिया।

जहां तक इस बात का प्रश्न है कि पाकिस्तान के लिए जिन्ना के किस आह्वान ने मुसलमानों की भावनाओं को प्रबल किया, तो इसका निर्णय करना कठिन है, लेकिन यह स्पष्ट है कि प्रांतों के लीगियों पर जिन्ना का नियंत्रण कमजोर था। प्रांतों के लीगी नेता किसी सीमा तक जिन्ना पर इसलिए भरोसा करते थे कि जिन्ना वायसराय के साथ कांग्रेस के खिलाफ अखिल भारतीय स्तर पर, उनके हितों का ध्यान रखेंगे, जबकि उन्होंने प्रांतों में अपनी स्वायत्तता बनाए रखी। ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है कि अप्रैल, 1945 तक मुसलमानों का राजनीतिक समुदाय संप्रभु पाकिस्तान के पक्ष में था।

7

मुस्लिम लीग का उत्थान : शिमला कांफ्रेंस से 1945-46 के चुनावों तक

दूसरा विश्वयुद्ध 6 मई, 1945 को समाप्त हो गया। इससे अगले दस महीनों में लीग की स्थिति सुदृढ़ होकर अखिल भारतीय राजनीति में एक शक्ति के रूप में उभरी। यह दो तरह से हुआ। पहला, जून, 1945 में, अंग्रेजों ने अपनी रणनीति के अंतर्गत नई एक्जीक्यूटिव कौंसिल में सभी मुसलमान सदस्यों को मनोनीत करने के जिन्ना के अधिकार को, बिना उसे अनुचित बताए चुपचाप मान्यता दे दी, जबकि अधिकतर प्रांतों के लीगी जिन्ना के इस रुख के विरुद्ध थे।

दूसरा, जिन्ना खुद जानते थे कि अखिल भारतीय समझौते में उनकी शक्ति तभी बढ़ी हुई दिखाई देगी, जब सन् 1945-46 की सर्दियों में होने वाले केंद्रीय और प्रांतीय विधानमंडलों के चुनावों में मुस्लिम लीग मुसलमानों के बहुमत वोटों से जीतकर आए। इसके लिए जिन्ना ने मुस्लिम बहुल प्रांतों में लीग के संगठन के फैलाव, धार्मिक व पाकिस्तान बनाने की बात के प्रचार की पक्की व्यवस्था की, और इसमें वह अपने विपक्षियों की कमजोरियों के कारण सफल भी रहे।

अक्तूबर, 1944 से वेवेल वॉर कैबिनेट से आग्रह करते रहे कि अपनी नई एक्जीक्यूटिव कौंसिल में भारत की प्रमुख राजनीतिक पार्टियों के प्रतिनिधियों को शामिल करने की उन्हें अनुमति दी जाए, जिसमें सम्मिलित शामिल भारतीयों में 'सवर्ण हिंदू' और मुसलमानों की संख्या बराबर रहेगी। उसने यह भी संकेत दिया कि इसके बिना प्रशासन विश्वयुद्ध के बाद की आर्थिक

और राजनीतिक समस्याओं से न तो भलीभांति निपट पाएगा और न जापान के विरुद्ध आक्रमण के लिए जरूरी संसाधनों को जुटाने में उसे जन समर्थन प्राप्त हो पाएगा। लेकिन उसकी इस मांग को मई, 1945 से पहले व्हाइट हॉल ने नहीं माना और वहुत अनिच्छापूर्वक इस वात पर सहमत हुआ कि वेवेल अगले महीने शिमला में भारतीय नेताओं की एक कांफ्रेंस बुला ले।

वेवेल ने 15 जून, 1945 को घोषित किया कि वह नई एक्जीक्यूटिव कौंसिल के गठन पर विचार करने के लिए भारतीय नेताओं को आमंत्रित करेंगे, ताकि कौंसिल में अधिक-से-अधिक राजनीतिक विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व हो सके। गांधी जी ने नई कौंसिल में प्रस्तावित 'सवर्ण हिंदू' और मुसलमानों की बरावरी का विरोध किया। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि कांग्रेस नई कौंसिल में सभी मुस्लिम प्रतिनिधियों को मनोनीत करने के मुस्लिम लीग के अधिकार को कभी स्वीकार नहीं करेगी। इस पर जिन्ना ने कहा कि नई कौंसिल में भी मुस्लिम प्रतिनिधि हमेशा अल्पमत में ही रहेंगे क्योंकि, अन्य अल्पसंख्यक, सिख तथा अनुसूचित जातियां 'सवर्ण हिंदुओं' के साथ ही वोट देंगी। वेवेल ने जिन्ना को आश्वस्त किया कि वह मुसलमानों के हितों की रक्षा सुनिश्चित करेगा। जिन्ना चाहते थे कि सभी मुस्लिम प्रतिनिधियों को मुस्लिम लीग ही मनोनीत करे।

कांग्रेस द्वारा भेजी गई सूची में सम्मिलित किसी भी नाम पर वेवेल ने आपत्ति नहीं की, लेकिन लीग की इस मांग को लेकर कि प्रस्तावित कौंसिल में सभी मुस्लिम प्रतिनिधियों का नामांकन लीग करेगी, 25 जून, 1945 से शुरू हुई शिमला कांफ्रेंस में समस्या खड़ी हो गई। प्रांतीय मुस्लिम लीग के नेता जिन्ना के साथ नहीं थे क्योंकि, असम में सादुल्ला और बंगाल में नाजिमुद्दीन दोनों ही कांग्रेस के समर्थन पर निर्भर करते थे। उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में पचास प्रतिशत पढ़े-लिखे मुसलमानों का मानना था कि सभी मुस्लिम प्रतिनिधियों के नामांकन का एकाधिकार जिन्ना को नहीं होना चाहिए। यूनियनिस्ट नेता विश्वयुद्ध में दिए गए अपने सहयोग के बदले में अंग्रेजों से पुरस्कार पाने की आशा करते थे और वे नई एक्जीक्यूटिव कौंसिल में अपने लिए कम-से-कम एक सीट तो चाहते ही थे। इस तरह प्रांतीय लीगी नेताओं के विरोध को देखते हुए जिन्ना ने मुस्लिम प्रतिनिधियों की सूची देने से ही इनकार कर दिया।

इस गतिरोध को टालने के लिए वेवेल ने स्वयं मुस्लिम प्रतिनिधियों की

अपनी सूची बनाई और जिन्ना को दिखाई। उन्होंने जिन्ना को खुश करने के लिए अपनी सूची में से कांग्रेस के मुस्लिम प्रतिनिधियों के नाम काट रखे थे, लेकिन यूनियनिस्ट मुस्लिम प्रतिनिधि का नाम शामिल कर रखा था। जिन्ना ने वायसराय की सूची के नामों पर उस समय तक विचार करने से मना कर दिया, जब तक कि उन्हें मुस्लिम प्रतिनिधियों को नामांकित करने का पूरा अधिकार न दिया जाए। जिन्ना कुछ इस तरह की गारंटी भी चाहते थे कि कौंसिल में कोई भी निर्णय, जिसका मुस्लिम प्रतिनिधि विरोध करें, उसे दो-तिहाई बहुमत से ही पारित माना जाए—यह एक तरह का 'सांप्रदायिक वीटो' था। वेवेल ने जिन्ना को कह दिया कि इस तरह की शर्तें बिलकुल नहीं मानी जाएंगी। अंत में, 14 जुलाई की आखिरी बैठक में जिन्ना ने एक नया दावा पेश किया कि कौंसिल में सभी पार्टियों के कुल प्रतिनिधियों के मुकाबले लीग को बराबर का दर्जा दिया जाए। इस पर वेवेल की टिप्पणी थी कि 'यदि जिन्ना का सचमुच में यही मतलब था तो यह स्पष्ट है कि उनका कभी भी, इस प्रस्ताव को स्वीकार करने का कोई इरादा ही नहीं था और इससे यह समझना कठिन है कि वह आखिर शिमला आए ही क्यों?'

वेवेल कौंसिल में लीग के बिना या गैर-लीगी मुसलमानों को शामिल करने के लिए जिन्ना पर दबाव डाले बिना, आगे बढ़ सकते थे, लेकिन चर्चिल की सरकार ने निर्देश दिया कि जिन्ना को नाराज न किया जाए। इस पर वेवेल ने कांफ्रेंस को समाप्त कर दिया और जिन्ना के दुराग्रह के लिए उसे दोषी ठहराए बिना, ब्रिटिश शासन ने एक तरह से जिन्ना को राजनीतिक प्रगति रोकने का विशेषाधिकार दे दिया। इस तरह किसी भी स्तर पर यह कांफ्रेंस कुछ भी नहीं कर सकी। वायसराय के रुख के सामने कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने अपने को असहाय पाया, लेकिन कांग्रेस के नेता यह कभी नहीं समझ सके कि वायसराय ब्रिटिश सरकार के आदेशों के अनुसार ही काम कर रहे थे।

सन् 1945-46 के चुनाव

ब्रिटेन में जुलाई, 1945 में हुए चुनावों में क्लीमेंट ऐटली के नेतृत्व में लेबर सरकार सत्ता में आई। नई सरकार के परामर्श पर वेवेल ने 21 अगस्त को केंद्रीय व प्रांतीय विधानमंडलों के नए चुनाव कराए जाने की घोषणा कर दी। ये चुनाव किस लिए महत्वपूर्ण थे, इसे 11 सितंबर को ब्रिटिश पार्लियामेंट में

ऐटली की इस घोषणा से समझा जा सकता है, जिसमें उन्होंने घोषित किया कि सन् 1942 का क्रिप्स प्रस्ताव अब भी उसी रूप में भारत के सामने है, जिस पर भारतीय नेता विचार कर सकते हैं।

यदि ब्रिटेन की नीति का आधार क्रिप्स प्रस्ताव ही था तो फिर जिन्ना ने इसका यही अर्थ लगाया कि प्रांतों को अधिकार होगा कि वे संघ से वाहर जा सकते हैं। इस पर जिन्ना ने मुस्लिम बहुल प्रांतों में बहुमत पाने के लिए जमकर मेहनत की ताकि वह संप्रभु पाकिस्तान को पा सकें।

जिन्ना के लिए यह काम आसान नहीं था, क्योंकि अधिकांश स्थानों पर लीग का संगठन बहुत कमजोर था। प्रांतीय लीगों के पास धन का अभाव था, दूसरे, उनके पास अच्छा नेतृत्व भी नहीं था और लीग बंगाल में नाजिमुद्दीन और एच.एस. सुहरावर्दी की आपसी कलह में फंसी हुई थी।

फिर भी जिन्ना प्रांतीय लीगों को अपने नियंत्रण में कर पाने में समर्थ रहे, क्योंकि लीग के केंद्रीय पार्लियामेंट्री बोर्ड को ही केंद्रीय और प्रांतीय विधानमंडल के चुनावों के लिए प्रत्याशियों के नाम पर अंतिम निर्णय लेना था। सभी प्रत्याशियों को मनोनीत करने की जिन्ना की क्षमता से पता चलता है कि केंद्रीय लीग ने प्रांतीय लीगियों पर भरोसा करने के बजाय अपने संगठन को व्यापक रूप से फैला लिया था। लीग ने पंजाव पर जो अपना दांव लगाया उसका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि केंद्रीय लीग ने पंजाब में पार्टी की गतिविधियों के लिए आधी रकम दी और शेष रकम प्रांतीय लीग ने जुटाई।

जिन्ना का अपना संगठन जब व्यापक रूप से फैल गया तो उन्होंने पाकिस्तान की कल्पना को प्रचारित किया। उन्होंने प्रांत के उन मुस्लिम नेताओं को जो लीग के प्रति उदासीन या विरोधी थे, उन्हें इस्लाम का गद्दार बतलाया और लीग को एकमात्र ऐसी पार्टी के रूप में प्रस्तुत किया जो मुसलमानों के हितों की रक्षा कर सकती है।

पंजाब पर जिन्ना का धावा

लीग ने पंजाव में यूनियनिस्टों के विरुद्ध सीधा धावा बोल दिया। यूनियनिस्ट पार्टी पंजाब में सन् 1920 से सत्ता में थी और वह पंजाब में कांग्रेस तथा लीग दोनों के प्रभाव का प्रतिरोध सफलतापूर्वक कर रही थी। यूनियनिस्टों ने बीस

साल के शासन में अपनी जो स्थिति और प्रभाव बनाया था उससे लड़ना लीग के लिए कठिन था। यूनियनिस्ट पार्टी वैसे जागीरदारों, मजिस्ट्रेटों और सरकारी अनुग्रह पाने वाले वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी और नौकरशाही तथा अभिजात्य वर्ग परस्पर एक दूसरे पर निर्भर थे। इससे निपटने के लिए लीग ने किसान-मजदूरों के बीच जाने और गांव-गांव में 'पाकिस्तान' का प्रचार करने का निर्णय किया।

लीग ने अपने संगठन को विस्तृत किया और मुस्लिम जन सामान्य से संपर्क स्थापित किया। लीग ने प्रांत भर में प्रतिदिन चालीस से पचास जन सभाएं कीं, जबकि यूनियनिस्ट पार्टी की जन सभाओं का औसत एक दिन में एक से भी कम रहा। यूनियनिस्ट नेता किसानों पर अपने प्रभाव का भरोसा किए बैठे रहे। यूनियनिस्ट नेताओं का कहना था कि 'हम जन सभाओं में विश्वास नहीं रखते, हमारे आदमी गांवों में जाते हैं और वहां के उन स्थानीय प्रभावशाली लोगों से मिलते हैं, जिनका मतदाताओं पर प्रभाव है।'

अब लीग ने यूनियनिस्टों और उनके ब्रिटिश समर्थकों पर हमला बोल दिया। वेवेल द्वारा सन् 1945 में यूनियनिस्टों की प्रशंसा का हवाला देते हुए जिन्ना ने सार्वजनिक रूप से घोषणा की कि 'जब हम पाकिस्तान के लिए लड़ते हैं तो हमारी यह लड़ाई अंग्रेजों के खिलाफ होती है, न कि भारतीयों के खिलाफ।' इसी दौरान लीगियों ने अधिकारियों पर आरोप लगाया कि वे यूनियनिस्टों के पक्ष में चुनाव में हस्तक्षेप कर रहे हैं। इसे लेकर प्रांतीय लीग ने एक प्रस्ताव पारित कर मांग की कि यूनियनिस्ट मंत्रिमंडल को बर्खास्त किया जाए और नौकरशाही तंत्र को भी समाप्त किया जाए। इस मांग को पंजाब के गवर्नर सर बरट्रैंड ग्लैंसी ने अस्वीकार कर दिया और इस तरह की विज्ञप्ति जारी करने से भी इनकार कर दिया कि अधिकारियों के हस्तक्षेप से चुनाव पूरी तरह मुक्त रहेंगे। इस से लीग ने यूनियनिस्टों तथा अंग्रेजों पर अपने हमले और तेज कर दिए।

लीग को वैसे भी, चिंता करने की जरूरत नहीं थी, क्योंकि उसने बहुत से क्षेत्रों में पंजाब प्रशासन के निचले स्तर के मुसलमान अधिकारियों को अपने साथ मिलाकर उनसे लीगी मतदाताओं की झूठी और फर्जी अर्जियां दाखिल करा दी जाती थीं। ग्लैंसी की रिपोर्ट के अनुसार, पंजाब के अधिकतर अधिकारियों की सहानुभूति यूनियनिस्टों की अपेक्षा लीगियों के साथ थी। इसी कारण लीगियों को उन सीटों पर सबसे अधिक सफलता मिली, जहां उन्होंने यूनियनिस्टों

के पक्ष में अधिकारियों के हस्तक्षेप के बढ़-चढ़कर आरोप लगाए थे।

लीग की हार-जीत का फैसला ग्रामीण क्षेत्रों में ही होना था, क्योंकि लीग ने 85 मुस्लिम सीटों में केवल 12 सीट ही शहरी क्षेत्र को दी थीं। चुनावों के लिए लीग ने सौ ट्रकों का आर्डर दिया था, जिसमें अधिकतर ट्रक ग्रामीण क्षेत्रों में संभावित लीगी वोटरों को दूर-दराज गांवों से मतदान केंद्र पर लाने के लिए लगाए गए थे। चुनावी खेल मुश्किल था। 18 दिसंबर, 1945 के 'दी स्टेट्समैन' अखबार ने लिखा था कि प्रत्याशी की हार-जीत उसकी इस क्षमता पर निर्भर करेगी कि वह मतदाताओं को परिवहन के लिए कितने साधन उपलब्ध करा पाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में वोट हासिल करने के लिए प्रत्याशी को केवल इतना ही करना था कि वह मतदाताओं को ट्रकों में बैठाकर घुमाने भर की मौज-मस्ती का आश्वासन दे।

लीग ग्रामीण क्षेत्रों में अपना संगठन फैला चुका था, अब उसने पाकिस्तान के लिए धार्मिक भावनाओं का दोहन किया। लीग के नेताओं ने प्रचार किया कि लीग को दिया गया वोट पैगंबर साहब को दिया गया वोट होगा। झेलम जिले में लीग के प्रत्याशी ने तो मतदाताओं से यहां तक कह दिया कि वे दीन और दुनिया में से एक को चुन लें। दीन के मतलब को उसने इस तरह पेश किया कि दीन धर्माचरण, पाकिस्तान को बनाने और हिंदुओं की गुलामी से मुसलमानों को बचाने के लिए है, जबकि दुनिया से मतलब काफिरों और भाई-भतीजावाद के शासन से है।

खिजर ने धार्मिक अपील को स्वीकार करते हुए यह घोषणा कर दी कि यूनियनिस्ट नेता पाकिस्तान की मांग के साथ हैं। उसने कहा कि मुसलमान चाहे मुस्लिम लीग के उम्मीदवार को वोट दें या मुस्लिम यूनियनिस्ट उम्मीदवार को, मुसलमानों का वोट पाकिस्तान के लिए ही है। खिजर यह जानते हुए भी कि पंजाब में अंतर-सांप्रदायिक सहयोग जरूरी है, अपनी बात पर टिके न रह कर, अपने बचाव में उतर आए।

चुनावी जीत से मुस्लिम लीग की बढ़त

बंगाल में सुहरावर्दी ने सन् 1943-45 के बीच शहरी क्षेत्र में अपनी स्थिति मजबूत बना ली थी, जबकि दूसरी ओर फज्लुल हक अपने मंत्रिमंडल की राजनीति में लगे रहे, जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में उनकी वह लोकप्रियता धीरे-

धीरे घटती चली गई, जिसके बल पर वह सन् 1937 में भारी बहुमत से जीतकर आए थे। सन् 1946 के चुनाव में सुहरावर्दी ने बंगाल में सभी उम्मीदवार मुस्लिम लीगी ही खड़े किए और बंगाल के मुसलमानों के सामने बंगाल और असम को एक स्वशासी 'पाकिस्तान' के रूप में पेश किया तथा बताया कि 'पाकिस्तान' मुसलमानों को भरपूर संपन्नता देगा। लीग ने यह भी वायदा किया कि जमींदारी का उन्मूलन, बिना कोई मुआवजा दिए किया जाएगा। यह एक ऐसा वायदा था जिसके बल पर लीग बंगाल के खेतिहर किसान-मजदूरों का समर्थन जीत सकती थी। दूसरी ओर लीगी नेताओं का कहना था कि अगर अंग्रेज भारत पर अंतरिम सरकार थोपते भी हैं और उसमें मुसलमानों के हित सुरक्षित रहते हैं, तो उसे स्वीकार किया जा सकता है। इस तरह ऐसा कोई सबूत नहीं मिलता, जिससे यह पता चले कि बंगाल के लीगी नेता अपने प्रांतों—बंगाल और असम को संप्रभु पाकिस्तान का हिस्सा बनाए जाने के बारे में सोच रहे थे।

मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों में मिली लीग की सफलता को इस पैमाने से भी मापा जा सकता है कि उसने देश के 76 प्रतिशत मुस्लिम मत हासिल किए, जो अत्यंत उल्लेखनीय सफलता थी, क्योंकि सन् 1937 में उसे केवल 4.8 प्रतिशत ही मत मिले थे। पंजाब में तो उसकी उपलब्धि और भी उल्लेखनीय रही। उसने पंजाब के मुस्लिम बहुल ग्रामीण क्षेत्रों में यूनियनिस्ट पार्टी के 57 उम्मीदवारों को हराया और उन्हें सीट से बेदखल कर दिया। इसी तरह ग्रामीण क्षेत्रों में 9 कांग्रेसियों को भी हराया। यूनियनिस्ट केवल ग्यारह सीटों पर लीगियों को हरा सके। लीग ने ग्रामीण क्षेत्र में 62 सीटें, शहरी क्षेत्र की 9 सीटें और 2 महिला, कुल मिलाकर 73 सीटें जीतीं। उसे मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों के 65.10 प्रतिशत मत मिले।

खिजर के प्रस्तावित पाकिस्तान को, जिसमें अंतर-सांप्रदायिक सहयोग की बात थी, मुस्लिम मतदाताओं ने निर्णायक तौर पर निरस्त कर दिया और यह लीग के सांप्रदायिक प्रचार की सफलता तथा मुसलमानों के लिए पाकिस्तान की सांप्रदायिक अपील के प्रभावी होने की वजह से हुआ। खिजर के सेक्रेटरी एस.ई. ऐबट के अनुसार, लीग की सफलता पाकिस्तान की अपरिहार्यता में मुसलमानों में विश्वास के कारण रही। वैसे भी, लीग ने इस चुनाव को एक प्रकार से पाकिस्तान के लिए जनमत संग्रह के रूप में प्रस्तुत किया था और अंग्रेजों ने भी इसका खंडन नहीं किया था। इस मामले में अंग्रेजों की चुप्पी

ने लीग की सफलता में विशेष भूमिका निबाही और उसे बढ़ावा दिया।

लीग ने बंगाल में तो पंजाब से भी अच्छी सफलता हासिल की। उसने मतदान में 83.6 प्रतिशत मत प्राप्त किए। फज्लुल हक की कृषक प्रजा पार्टी केवल 5.3 प्रतिशत मत ही प्राप्त कर सकी, जबकि कांग्रेस समर्थित मुस्लिम उम्मीदवार एक प्रतिशत से क़ुछ अधिक ही मत प्राप्त कर पाए। बंगाल और सिंध में लीग की सफलता आंशिक रूप से इस कारण भी रही कि उनके सामने कोई गंभीर प्रतिरोध नहीं था। कांग्रेस के पास मुस्लिम बहुल प्रांतों में मुस्लिम सीटों पर लड़ने के लिए जिस तरह के संगठन और फंड की जरूरत थी, उसका अभाव था। कांग्रेस में पंजाब और बंगाल जैसे, दोनों मुख्य प्रांतों में गुटबाजी की वजह से फूट पड़ी हुई थी और सही अर्थों में तो वहां संगठन ने अपना काम कभी किया ही नहीं था।

कांग्रेस केवल उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में हिंदू और मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों में सफल रही। यहां पर मुस्लिम लीग अपने नेताओं के भ्रष्टाचार के कारण बदनाम थी, इसीलिए औरंगजेब खां तक को लीग ने टिकट नहीं दिया। कांग्रेस यहां पर लीग को अंग्रेजों की कठपुतली सिद्ध करने में सफल रही। वास्तव में कुछ अंग्रेज अधिकारियों और उनकी पत्नियों ने लीग के लिए काम किया। गवर्नर सर जॉर्ज कनिंघम का मत था कि पठानों पर पाकिस्तान की अपील का कोई ज्यादा असर नहीं हुआ, क्योंकि पठान इस बात को सोच ही नहीं सकते थे कि हिंदू या कोई और उन पर अधिपत्य जमा सकता है।

उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत ही एक ऐसा मुस्लिम बहुल प्रांत था, जहां लीग मुस्लिम मतदाताओं का बहुमत पाने में असफल रही। लीग की विपक्षी पार्टियों ने मतदान के 58 प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त किए। मुस्लिम बहुल प्रांतों में लीग की जीत का कारण इस बात को उजागर करता है कि बहुत-से मुसलमान प्रांतीय राजनीति से अलग हटकर लीग के साथ इसलिए हो लिए कि लीग ही एकमात्र मुस्लिम पार्टी है जो केंद्र में सत्ता हस्तांतरण के समझौतों में मुसलमानों के हितों का ध्यान रख सकती है। वैसे भी, लीग की सफलता ने यह दिखा दिया था कि 'पाकिस्तान' को लेकर मुस्लिम धार्मिक समुदाय मजबूती के साथ एकजुट हो गया है और उसका राजनीतिकरण हो चुका है, लेकिन क्या इससे जिन्ना के संप्रभु राज्य की अवधारणा की विजय हुई, इस पर प्रश्न किया जा सकता है।

लीग के पास बंगाल और सिंध में सरकार बनाने के लिए पर्याप्त सीटें थीं, लेकिन पंजाब में उसे दस सदस्यों के समर्थन की जरूरत थी। सिखों के साथ किसी भी तरह के गठबंधन में 'पाकिस्तान' का मामला आड़े आ रहा था। 'पाकिस्तान' के डर ने कांग्रेस, अकाली और यूनियनिस्ट पार्टी को एक गठबंधन के लिए बाध्य कर दिया। तीनों ने खिजर के नेतृत्व में 7 मार्च, 1946 को पंजाब गठबंधन पार्टी का गठन कर लिया। इन तीनों के गठबंधन से पंजाब विधानमंडल में उनकी संख्या लीग से 10 ज्यादा हो गई। गवर्नर ग्लैंसी ने लीग के नेताओं के इस दावे कि वह अकेली सबसे बड़ी सदस्य संख्या वाली पार्टी का प्रतिनिधित्व करती है, के बावजूद गठबंधन के नेता के रूप में खिजर को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया।

संवैधानिक शक्ति के छिन जाने से लीग ने धरने-प्रदर्शन किए और मंत्रिमंडल को अंग्रेजों का पिट्ठू तथा देशद्रोही कहकर बदनाम किया। उसने कांग्रेस को इसलिए कोसा कि वह जिन यूनियनिस्टों को पहले प्रतिक्रियावादी कहकर उनका उपहास करती थी, उनसे ही उसने हाथ मिला लिया। इस गठबंधन सरकार में एक अजीब विसंगति भी थी कि उसमें मुसलमानों का प्रतिशत बहुत कम था, जबकि लीग जो मुस्लिम बहुल वोटों से जीतकर आई थी, उसका सरकार में कोई स्थान नहीं था। यह भविष्य के लिए एक अपशकुन सिद्ध हुआ।

8

कैबिनेट मिशन प्लान : 1946

यदि, जैसा कि कुछ विचारकों का मत है, सन् 1947 में देश के विभाजन द्वारा पाकिस्तान का एक संप्रभु राज्य के रूप में अस्तित्व में आना दो स्वाभाविक 'राष्ट्रों' के राजनीतिकरण का अपरिहार्य परिणाम है, तो सवाल यह उठता है कि यह राजनीतिकरण कब और कैसे हुआ, जिसने इसे अपरिहार्य बना दिया। जहां तक मुस्लिम बहुल प्रांतों में मुसलमानों का प्रश्न है, इस तरह की स्थिति पैदा होने के पीछे मुस्लिम समुदाय का 'आल इंडिया मुस्लिम लीग' के झंडे के नीचे उनका एकजुट होना रहा, क्योंकि वे समझते थे कि केंद्र में समझौता वार्ता में यही पार्टी उनकी तरफ से जोरदार आवाज उठा सकती थी। छठे अध्याय में इस बात पर विचार किया जा चुका है कि सन् 1945 तक यह स्थिति नहीं वन सकी थी, लेकिन जव निकट भविष्य में अंग्रेजों द्वारा सत्ता छोड़े जाने की वात स्पष्ट हो गई तब समूचे मुस्लिम समुदाय की ओर से बोलने के लीग के दावे को काफी बल मिलना प्रतीत हो गया था।

सभी मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने का मुस्लिम लीग का दावा क्या तात्कालिक स्थिति से उत्पन्न एक सतही उपज के बजाय मुस्लिम सांप्रदायिकता को एक कट्टरपंथी और स्थायी राजनीतिक एकीकरण के रूप में बांधना था? सचाई तो यह थी कि लीग का इरादा 'पाकिस्तान' की आवाज को महज एक राजनीतिक नारे के रूप में अपनाकर, मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं का दोहन करते हुए, उन्हें जिन्ना के पीछे एकजुट करना था। इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक में इस वात पर विचार किया गया है कि जिन्ना और लीग का संप्रभु पाकिस्तान की मांग उठाने का इरादा इस तरह की सौदेबाजी करना था जिससे

अंग्रेजों और कांग्रेस से अधिक से अधिक बड़ा पाकिस्तान प्राप्त किया जा सके, और सन् 1945-46 में जिन्ना ने यही चाल चली कि दोनों व अन्य पक्ष भारतीयों को सत्ता हस्तांरित करने से पहले या ऐसा करते समय पाकिस्तान को मान लें। अंग्रेज तथा अन्य पार्टियों ने हस्तांतरण से पहले या बाद में पाकिस्तान को स्वीकार कर लिया, इसलिए यह जरूरी है कि कैबिनेट मिशन से हुई समझौता वार्ता पर नजर डाली जाए, ताकि जिन्ना के संप्रभु पाकिस्तान के अधिकार जताने के उद्देश्य की गंभीरता की परीक्षा हो सके।

चुनावों से पहले अक्तूबर, 1945 में वेवेल चाहते थे कि पाकिस्तान पर ब्रिटेन का रुख स्पष्ट कर दिया जाए। हालांकि, इससे लीग को नाराज करने का खतरा ब्रिटेन को उठाना पड़ सकता था, जबकि ब्रिटेन को कांग्रेस का मुकाबला करने के लिए लीग की आवश्यकता थी। लेकिन वेवेल चाहते थे कि जिन्ना को शुरू में ही बता देना चाहिए कि पाकिस्तान की उनकी मांग को नहीं माना जाएगा बजाय इसके कि हम बाद में इससे इनकार करें।

वेवेल ने सन् 1946 के शुरू में ही कैबिनेट को सलाह दी थी कि ब्रिटेन को जून, 1948 तक भारत से वापस आ जाना चाहिए। लेकिन लेबर पार्टी की सरकार ने वेवेल को अत्यधिक पराजयवादी मानते हुए भारत की स्वाधीनता को टाल दिया। और बाद में अंततः लेबर सरकार ने वेवेल से पूछा कि सत्ता हस्तांतरण को क्या ब्रिटेन की उदारता के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता?

लेबर सरकार घोषणा करने से बचती रही क्योंकि, वह इस तरह लीग या फिर कांग्रेस को नाराज कर सकती थी। इस मामले में अंग्रेजों की परेशानी की तुलना उपनिवेशवाद के विघटन से उनके मोह से की जा सकती है, क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति लेबर पार्टी का मोह भी कंजर्वेटिव पार्टी से कुछ कम नहीं था। स्वाधीनता देने के प्रश्न पर ब्रिटेन की कंजर्वेटिव और लेबर सरकारें एक जैसी ही थीं। और कांग्रेस सदा स्वाधीनता के लिए संघर्ष करती रही। यहां जरा ऐमरी को याद करें, जिनका सन् 1943 में यह विचार था कि अच्छा होता कि ब्रिटिश और भारतीय अभिजात वर्ग के बीच वैवाहिक संबंधों को अंग्रेज प्रोत्साहित करते, और इसी तरह सन् 1945 के बाद ब्रिटेन के विदेश मंत्री बने अर्नेस्ट बेविन भी कभी यही चाहते थे कि ब्रिटिश साम्राज्य को मजबूत बनाने के लिए राष्ट्रमंडल के विभिन्न भागों में प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे अंग्रेज सैनिक स्थानीय महिलाओं से विवाह करें। इस संदर्भ में यह बात समझ में

आनेवाली है कि ब्रिटिश साम्राज्य को बनाए रखने के प्रति लेबर पार्टी की प्रतिबद्धता तथाकथित भारतीय स्वाधीनता के प्रति उसकी प्रतिबद्धता से कहीं अधिक प्रबल थी। ब्रिटेन के अपने हित सर्वोपरि थे : सत्ता हस्तांतरण का राजनीतिक निर्णय इस रणनीति पर आधारित था कि भारत की सुरक्षा के लिए यह जरूरी है कि वह राष्ट्रमंडल का सदस्य बना रहे।

ब्रिटेन अगस्त, 1945 और उसके बाद से कानून और व्यवस्था को बनाए रखने की समस्या से भी ग्रस्त हो गया था। कांग्रेस को मिला भारी समर्थन इस बात से भी स्पष्ट था कि कांग्रेस के नेताओं की जेल से रिहाई पर उनके स्वागत में भारी भीड़ उमड़ पड़ी थी।

सशस्त्र बलों और प्रशासनिक सेवाओं में भारतीयों की वफादारी को लेकर भी अंग्रेज बहुत चिंतित थे। ब्रिटिश भारतीय सेना के कमांडर-इन-चीफ फील्ड मार्शल सर क्लाड अकिनलेक का विचार था कि यदि अंग्रेज वास्तव में भारत से विदा होना चाहते हैं तो फिर इस देश में उनके द्वारा सैन्य-शक्ति को और अधिक सुदृढ़ करने का कोई औचित्य नहीं है, जब तक कि भारत सरकार ही इस संबंध में कोई अनुरोध न करे। आई.एन.ए. के तीन अधिकारियों पर सन् 1946 में चलाए गए मुकदमे को लेकर देश में जो व्यापक असंतोष था, उससे सेना में भारतीय सैनिकों की वफादारी परखी जा चुकी थी, इसलिए उन तीनों अफसरों के साथ नरमी बरती गई। अकिनलेक ने लिखा है कि प्रत्येक भारतीय 'देशभक्त' कहलाने का अधिकारी था। इसका मतलब यह नहीं कि भारतीय अधिकारी ब्रिटिश विरोधी थे, लेकिन वे अपने देश को ब्रिटेन के राजनीतिक अधिपत्य से मुक्त देखना चाहते थे।

ब्रिटेन के साम्राज्यवादी सैन्य आधार के खिसकने का संकेत आगे चलकर जनवरी और फरवरी, 1946 में भारतीय शाही वायुसेना और भारतीय शाही नौसेना के विद्रोह ने दे दिया। हालांकि, वायुसेना के विद्रोह को शीघ्र ही दबा दिया गया, लेकिन नौसेना के विद्रोह में विद्रोहियों ने बंबई में ब्रिटेन के बीस जहाज पकड़ लिए और कराची में जब ब्रिटेन के जहाजों ने गोलाबारी शुरू की तो विद्रोही भारतीय नौसैनिकों ने भी जवाबी कार्यवाही में जहाजों की तोपों से गोले छोड़े। बंबई में हुई हड़ताल में औद्योगिक श्रमिक भी शामिल हो गए और उसमें कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के झंडे साथ-साथ फहराए गए। कांग्रेस और लीग के नेताओं ने अपने-अपने प्रभाव का उपयोग कर हड़ताल को समाप्त

कराया। लेकिन अब जातीय भावना बहुत ही उग्र हो चुकी थी साथ ही सशस्त्र बलों की निष्ठा भी संदेह के घेरे में आ चुकी थी। ऐसे में अंग्रेजों ने सोचा कि हिंसा को रोकने के लिए संवैधानिक उपाय ही उचित होगा।

यही पृष्ठभूमि थी कैबिनेट मिशन की, जो 14 मार्च, 1946 को भारत पहुंचा। इसका उद्‌देश्य जैसा कि प्रधानमंत्री क्लीमेंट ऐटली ने बतलाया, भारत में ऐसे संवैधानिक ढांचे को गठित करने के लिए तंत्र स्थापित करना था, जिसमें भारतीयों को अपना भाग्य विधाता स्वयं बनने और एक नई अंतरिम सरकार बनाने का पूरा अधिकार हो। कैबिनेट मिशन ने इस बात का अनुभव किया कि सरकार की प्रशासनिक दुर्बलता के कारण अंग्रेजों के लिए अब यह संभव नहीं रह गया है कि वे स्थिति का मुकाबला उसी विश्वास से कर सकते हैं जैसा कि पहले करते थे, क्योंकि उन्हें संदेह था कि कानून और व्यवस्था को संभालने वाले बल विश्वसनीय हैं भी या नहीं। उन्होंने अपने विश्वास में इस तरह की कमी पहली बार अनुभव की थी। यदि समझौता वार्ता असफल हो जाती तो सशस्त्र सेनाओं की निष्ठा के बारे में भी वे निश्चिंत नहीं थे। अंग्रेज कोई समाधान थोप तो सकते नहीं थे, क्योंकि उस समय तक 'जो हुक्म सरकार' की संस्कृति थी, वह अब समाप्त प्रायः हो चुकी थी। जब हुक्म देने वाले अधिकारी की गद्‌दी कल छिन ही जाने वाली है तो कौन मानेगा उसका आदेश।

भारत विभाजन के खिलाफ अंग्रेज

अंग्रेज इस पक्ष में थे कि सत्ता का हस्तांतरण संयुक्त भारत को किया जाए, जिसमें सशस्त्र बल अविभाजित रहें, और यही सामरिक दृष्टि से उनके हित में रहेगा। प्रतिरक्षात्मक दृष्टि से भी यह अति आवश्यक था कि भारत एक ही इकाई रहे। लेकिन अपने इस मंतव्य को अंग्रेजों ने न तो कांग्रेस को बताया और न लीग को। विभाजन से भारतीय सेना की एकरूपता नष्ट हो जाएगी और यदि यह अकेला विकल्प असफल रहा तथा अव्यवस्था हो गई तो फिर बल प्रयोग का ही सहारा लेना पड़ेगा।

यदि इस उद्‌देश्य को ही कार्यान्वित करना है तो, अंग्रेज चाहते थे कि, किसी प्रकार की एक केंद्रीय प्रतिरक्षा व्यवस्था के लिए इनको हर संभव तरीके से सहमत कराया जाए जिसमें पाकिस्तान, हिंदुस्तान और रजवाड़े ही नहीं, बल्कि बर्मा (म्यांमार) और सीलोन (वर्तमान श्रीलंका) भी शामिल रहे।

यदि पाकिस्तान बनता है तो वह सैन्य रूप से अक्षम होगा, लेकिन इस बात को लेकर ब्रिटेन विरोध में खुलकर सामने नहीं आया, क्योंकि ऐसा करने से फिलीस्तीन में मुस्लिम भावनाएं भड़क सकती थीं, जिससे राष्ट्रमंडल की प्रतिरक्षा व्यवस्था को गंभीर खतरा पैदा हो सकता था।

आर्थिक और सैन्य शक्ति के क्षेत्र में पाकिस्तान की जीवित रह पाने की अक्षमता, अत्यंत अपमानजनक स्थिति और सशस्त्र बलों में भारतीयों की संदिग्ध निष्ठा के कारण अंग्रेजों के लिए किसी तरह का दमनकारी कदम उठाना कठिन था। इसलिए अंग्रेजों के सामने एकमात्र विकल्प किसी भी तरह अविभाजित भारत को सत्ता सौंपने का समझौता करना ही रह गया था। यही एकमात्र आधार था जिस पर वे अपनी साम्राज्यिक सुरक्षा व्यवस्था में भारत को बनाए रख अपने दीर्घकालीन लक्ष्य को प्राप्त करने की आशा कर सकते थे और इसे प्राप्त करने के लिए उन्होंने हर संभव प्रयास किए।

सन् 1946 में समझौता वार्ता

वेवेल मानते थे कि गांधी जी संत नहीं, बल्कि एक बहुत ही सख्त राजनीतिज्ञ हैं। समझौता वार्ता शुरू करते ही वेवेल ने सोचा कि क्रिप्स और पेथिक-लारेंस ने कांग्रेस के नेताओं और उनकी आकांक्षाओं में काफी सम्मान जता दिया है, 'अतीत में ब्रिटेन के दुष्कर्मों' के लिए पेथिक-लॉरेंस की क्षमा याचना से वायसराय विस्मित रह गया, विशेषकर उस समय जब गांधी जी ने एक गिलास पानी की इच्छा व्यक्त की तो क्रिप्स ने चपरासी के वजाय अपने सेक्रेटरी को पानी लाने के लिए भेजा और जब वह तत्काल नहीं लौट पाया तो क्रिप्स स्वयं जाकर पानी लेकर आए।

वेवेल भी मुस्लिम लीगियों को पंसद नहीं करते थे क्योंकि कोई भी कुछ नहीं बता सकता था कि पाकिस्तान से उनका मतलब क्या है; उनके पास 'सत्ता का संतुलन', 'प्रतिष्ठा' और 'मनोवैज्ञानिक प्रभाव' जैसे चालू मुहावरों के सिवाय कोई भी सही तर्क नहीं था। वे बस, हिंदुओं के प्रति घोर घृणा का भाव ही दिखलाते थे। फिर भी, वेवेल और लॉर्ड एलेक्जेंडर ने यह तय किया हुआ था कि मुस्लिम लीग को नीचा नहीं दिखाना है।

जब ब्रिटेन और कांग्रेस दोनों ही विभाजन नहीं चाहते थे तो फिर लीग के विरुद्ध दोनों मिलकर एकजुट क्यों नहीं हुए? कांग्रेस के नेताओं का विभाजन

के प्रति विरोध इसलिए था कि वह उनके संयुक्त धर्मनिरपेक्ष भारत, जिसे प्राप्त करने के लिए वे प्रयासरत थे, के विरुद्ध था। अंग्रेजों का विभाजन के प्रति विरोध इसलिए था कि इससे उनके विश्वव्यापी साम्राज्य का सैन्य आधार ही ढहा जा रहा था। वे अविभाजित भारत को सत्ता सौंपना चाहते थे, जिसे वे अपना सैनिक अड्डा बनाए रख सकें। ब्रिटेन के लिए इंपीरियल भारत की सैन्य-शक्ति उसकी एक सशक्त भुजा की तरह थी, यह सैन्य-शक्ति ब्रिटेन के करदाताओं पर बोझ डाले बिना, उन्हें लाखों सैनिक दे सकती थी। ब्रिटिश इंडियन आर्मी सुप्रशिक्षित, गतिशील एक ऐसी प्रहारक शक्ति थी, जिसे अल्प नोटिस पर दुनिया में कहीं भी तैनात किया जा सकता था। लेकिन इस बात को ब्रिटेन ने भारतीय राजनीतिक पार्टियों को कभी भी नहीं बताया कि स्वाधीनता के साथ सुरक्षा समझौते की शर्त जुड़ी होगी, जिसके अंतर्गत भारत को ब्रिटेन के लिए सैन्य-शक्ति को मजबूत बनाए रखने का आश्वासन देना निहित होगा।

इस तरह कैबिनेट मिशन की समझौता वार्ताओं के साथ तीनों पार्टियां अपनी-अपनी योजनाओं के साथ एक-दूसरे से विपरीत दिशाओं में चल रही थीं : लीग देश के विभाजन के लिए बैठी थी, कांग्रेस संयुक्त भारत की स्वतंत्रता के लिए, और ब्रिटेन अविभाजित भारत के केंद्र में अपनी सैन्य-सत्ता बनाए रखने के लिए। ब्रिटेन कांग्रेस और लीग के मतभेद का लाभ उठाते हुए एक ऐसा सैन्य समझौता चाहता था, जिसके द्वारा वह अपनी साम्राजी शक्ति को बनाए रख सके।

कैबिनेट मिशन की 16 मई, 1946 की योजना के अनुसार एक ऐसी व्यवस्था का सुझाव दिया गया, जिसमें एक यूनियन सरकार तथा प्रांतों में विधानमंडल होंगे। यूनियन सरकार प्रतिरक्षा तथा विदेश नीति, वित्त एवं मौलिक अधिकारों की प्रभारी होगी। इस योजना में लीग को मनाने के लिए यह कहा गया कि शेष सभी शक्तियां प्रांतों के पास रहेंगी। प्रांतों के समूह जनता की इच्छा के अनुसार सामान्य मामलों पर निर्णय लेंगे। प्रांतों में समूह अपने विधानमंडल और कार्यकारिणियां स्वयं गठित कर सकेंगे। कोई भी प्रांत अपने विधानमंडल के बहुमत वोट से प्रत्येक दस वर्षों में संविधान की शर्तों की समीक्षा कर सकेगा। प्रांतीय विधानमंडल अपनी संविधान सभाएं चुन सकेंगे, जिनमें जनसंख्या के अनुपात में सीटें निर्धारित होंगी।

केंद्रीय संविधान सभा तीन अनुभागों में विभाजित होगी, जिनमें हिंदू, मुस्लिम बहुल प्रांतों तथा रजवाड़ों का प्रतिनिधित्व होगा। हिंदू और मुस्लिम समूह अलग से बैठकर अपने प्रांतीय संविधान और अपने समूह का संविधान बनाने का निर्णय कर सकेंगे। जब यह व्यवस्था हो जाए, तब कोई प्रांत चाहे तो अपने समूह से अलग भी हो सकता है। इस तरह का गठन हो जाने के बाद संविधान परिषद के तीनों अनुभाग आपस में मिलकर केंद्र में संविधान का निर्माण कर सकेंगे।

कांग्रेस को डर था कि यह समूह बनाने वाली शर्त विभाजन को और सहज बना देगी। लीग को शिकायत थी कि कैबिनेट मिशन की यह योजना एक यूनियन का पक्ष ले रही है। लीग ने यूनियन को किसी भी रूप में नहीं माना और इस बात पर जोर देती रही कि वह संयुक्त भारत की संविधान सभा में कभी भी शामिल नहीं होगी।

निजी विचार-विमर्शों के दौरान ब्रिटेन ने 16 मई, 1946 को लीग को बतला दिया था कि जब तीनों अनुभाग मिशन की योजना के अनुसार अपना संविधान बना लेंगे, तभी ब्रिटेन सत्ता का हस्तांतरण करेगा। सैद्धांतिक रूप से इसका मतलब यह था कि तीनों में से 'कोई' भी भाग संयुक्त भारत से अलग हो सकता है। इस तरह पाकिस्तान अंग्रेजों की वापसी से पहले ही, उनके रहते-रहते वास्तविक रूप ले सकता है।

जिन्ना इस बात को समझकर अपने मन में लंबे समय से संजोए हुए संविधान को बनाने में जुट गए, ताकि वह जल्दी ही, अंग्रेजों के रहते-रहते पूरा हो जाए। क्रिप्स और पेथिक-लॉरेंस ने 16 मई को ही उन्हें यह भी आश्वासन दिया था कि ब्रिटेन यही चाहता है कि प्रांतीय विधानमंडल अपने संविधान बनाएं, और जब तक प्रांतीय विधानमंडलों के नए संविधान नहीं बन जाते, तब तक ब्रिटेन सत्ता का हस्तांतरण नहीं करे।

कांग्रेस नेताओं ने समूहों के खिलाफ अपनी आवाज उठाई और संविधान सभा की संप्रभुता पर जोर दिया। इस पर ब्रिटेन दो शर्तों पर राजी हो गया : अल्पसंख्यकों के साथ बराबरी का व्यवहार, तथा भारत और ब्रिटेन के बीच सैन्य संधि। ब्रिटेन ने कांग्रेस नेताओं को जो यह बताया कि संविधान सभा संप्रभुता-संपन्न होगी, यह उसके एकदम विपरीत था जो उन्होंने लीग को बताया था। इसका मतलब जैसा कि उन्होंने लीग से कहा था कि मिशन

योजना को लागू करने के लिए अंग्रेज जिम्मेदार नहीं होंगे। इस बात को न तो कांग्रेस जान सकी और न लीग कि ब्रिटेन एक-दूसरे को परस्पर विरोधी आश्वासन दे रहा है।

कैबिनेट मिशन प्लान को स्वीकार करते हुए लीग ने अपने प्रस्ताव में स्पष्ट कर दिया था कि वह इसे इसलिए स्वीकार कर रही है कि इसमें मुस्लिम बहुल छह प्रांतों के समूह को बनाने की अनिवार्यता की बात है, जो संप्रभु पाकिस्तान के निर्माण के पक्ष में है।

जिन्ना को उस समय संदेह हुआ जब ब्रिटेन ने कुछ ही समय बाद, कांग्रेस के उस प्रस्ताव को भी स्वीकार कर लिया, जिसमें कांग्रेस ने मिशन की योजना को इस आशय से स्वीकार किया था कि मिशन योजना संविधान सभा में समूहों के विरुद्ध है और संविधान सभा को कोई भी इस बात के लिए आदेश नहीं दे सकता कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं।

नेहरू ने 19 और 29 जुलाई, 1946 को संविधान सभा की संप्रभुता पर बल दिया। नेहरू सोचते थे कि जब भारतीय राजनीतिक पार्टियां संविधान सभा में आ जाएंगी तो वे राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक मुद्दों पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगी, और तब समूहों का मुद्दा नैपथ्य में चला जाएगा। इसका मतलब यह कि उनके कथन में समूह का मुद्दा कोई बहुत बड़ा स्थान नहीं रखता था। इससे भी महत्वपूर्ण बात नेहरू ने बड़ी दृढ़ता के साथ यह कही कि ब्रिटेन हमें संविधान सभा के बारे में किसी मुद्दे पर कोई आदेश नहीं दे सकता। उनके इस कथन का लक्ष्य अंग्रेजों की ओर था और इसका उद्देश्य संविधान सभा की स्वतंत्रता पर बल देना था। जिन्ना ने इस पर ब्रिटेन से स्पष्टीकरण की मांग की, लेकिन ब्रिटेन ने नेहरू के कथन पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की।

नेहरू के आलोचक उन पर आरोप लगाते हैं कि समूह के मुद्दे पर उनके विरोध के कारण ही मिशन की योजना असफल हुई। चूंकि, नेहरू के एक आलोचक मौलाना अबुल कलाम आजाद भी थे , जो कांग्रेस कार्यकारिणी समिति में उनके साथी थे, जिन्होंने नेहरू पर अनचाहे विभाजन पर चली अंतहीन बहसों में निरंतर राजनीतिक गतिरोध पैदा करने का आरोप लगाया और फिर सन् 1947 के बाद के भारत में, नेहरू की आलोचना करना खाली समय का एक शगल बन गया, जो बहुत आसान है, जबकि उन्हें गुजरे 42 साल हो गए।

दरअसल, कांग्रेस और लीग के बीच मूलभूत अंतर ब्रिटेन के प्रति उनके रुख और स्वतंत्र भारत के दृष्टिकोण को लेकर था। और ये मतभेद सन् 1946 के राजनीतिक समझौता वार्ताओं के दौरान उभरकर कहीं और अधिक गहरे हो गए।

कांग्रेस और लीग में विगत समय से चले आ रहे अविश्वास और समूहों पर ब्रिटेन द्वारा लीग को दिए गए आश्वासन का, यदि संविधान सभा की कार्यवाही में समूहों को उनकी जिम्मेदारी की गारंटी नहीं दी जाती, तो फिर कोई मतलब नहीं रह जाता। लेकिन यह समझना कठिन है कि जब ब्रिटेन संविधान सभा पर अपना अंतिम निर्णय दे चुका था, तब कांग्रेस कैसे उससे सहमत हो गई।

नेहरू के वक्तव्य को लेकर ब्रिटेन की चुप्पी पर जिन्ना ने गहरी आपत्ति जताई कि संविधान सभा में कांग्रेस और ब्रिटेन के आदेशों के चलते ब्रिटेन की लीग को कांग्रेस के वर्चस्व के विरुद्ध दी गई गारंटी का क्या महत्व रहा जाता है। लीग को विश्वास हो गया कि ब्रिटेन कांग्रेस के बिना आगे बढ़ने का इच्छुक नहीं है; लीग के साथ उसकी स्थिति और संविधान सभा की कार्यवाही पर दिए गए आश्वासन के साथ बेईमानी की जा रही है। कांग्रेस और लीग के मतभेद कोई नए नहीं थे। कैबिनेट मिशन के साथ समझौता वार्ता के पूरे दौर में सभी मुद्दों पर मतभेद बने रहे। जिन्ना को लगने लगा कि मिशन योजना को ब्रिटेन उस तरह लागू नहीं करेगा, जिस तरह का आश्वासन उसने लीग को दिया है। इस तरह लीग को ब्रिटेन से कुछ भी नहीं मिल पाएगा, यह 29 जुलाई, 1946 को सिद्ध हो गया और यह मुस्लिम लीग की सीधी कार्यवाही के लिए उत्प्रेरक वन गया।

9

अंतरिम सरकार, लीग की सीधी कार्रवाई और 1946 की वेवेल योजना की विफलता

16 अगस्त, 1946 को 'सीधी कार्रवाई दिवस' के रूप में मनाने के लीग के आह्वान से उत्पन्न एक नई और गंभीर स्थिति पर विचार करते हुए लेवर सरकार ने वेवेल को सलाह दी कि वे यह सुनिश्चित कर लें कि ब्रिटेन के हाथ से पहल न जाने पाए। जिन्ना के असहयोग से अंतरिम सरकार बनाने के मार्ग में कोई बाधा न पड़े, इसका इंतजाम करने की सलाह भी वेवेल को दी गई। वायसराय को यह निर्देश भी दिया गया कि वे जिन्ना से मिलकर मुस्लिम लीगियों को अंतरिम सरकार में शामिल होने के लिए राजी करें। ब्रिटेन ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होने देना चाहता था कि कांग्रेस और लीग दोनों ही उसके विरुद्ध हो जाएं और सरकार अनिश्चित काल तक अधिकारियों द्वारा चलाई जाती रहे।

लीग को साथ लिए बिना आगे बढ़ने का निर्णय गंभीर हो सकता था, लेकिन यदि कोई व्यावहारिक विकल्प नहीं मिला तो यह भी करना पड़ेगा। इसका मतलव यह होगा कि यदि लीग हिंसा पर उतारू हुई तो उसकी इस हिंसा को कुचलने के लिए कांग्रेसी प्रतिनिधियों से भरी सरकार को समर्थन देना होगा।

सीधी कार्रवाई से लीग का क्या मतलव था, यह स्पष्ट नहीं किया गया था। जिन्ना ने भी यह कहते हुए कि नैतिकता के प्रश्न पर वे अभी विचार नहीं करेंगे, कुछ भी कहने से इनकार कर दिया। अधिकतर प्रांतीय लीगियों ने शांतिपूर्वक प्रदर्शन करने के लिए कहा, और 16 अगस्त, 1946 को, जिन्ना

ने भी मुसलमानों को शांत रहने की सलाह दी। मुस्लिम लीग ने 'डॉन' जैसे अखबारों में 16 अगस्त को विज्ञापन छपवाए –

'आज सीधी कार्रवाई का दिन है ....
आज हर मुसलमान अल्लाह के नाम पर
अहद करे कि वह हमले का मुकावला करेगा ....
क्योंकि उन्होंने अमन की पेशकश की जिसे ठुकरा दिया गया
वे अपने अहद पर कायम रहे लेकिन उनके साथ धोखा हुआ
उन्होंने मांगी आजादी पर वे दे रहे हैं गुलामी
अब तो ताकत से ही मिलेंगे हमारे हुकूक।'

सीधी कार्रवाई ने कलकत्ता में हिंसक रूप ले लिया। कलकत्ते में बहुत-सी अनहोनियां हुईं। मुख्यमंत्री हसन शहीद सुहरावर्दी सहित अनेक वरिष्ठ लीगी नेताओं ने मुसलमानों से खुलेआम कह रखा था कि उन्हें अहिंसा से बंधे रहने की जरूरत नहीं है। कुछ लीगी तो यहां तक कह गए कि हिंसा के निशाने पर अंग्रेज नहीं, हिंदू होंगे। लेकिन 16 अगस्त की सुबह सैन्य बल अपनी बैरकों में ही रहे। सुहरावर्दी ने गवर्नर सर फ्रेड्रिक बरोज की सहमति से उस दिन सार्वजनिक छुट्टी घोषित कर दी। बरोज ने वेवेल को बताया कि इसके पीछे उनका उद्देश्य था कि 16 अगस्त को सांप्रदायिक संघर्ष का खतरा कम-से-कम रहे।

दंगे की सूचनाएं उस दिन पुलिस मुख्यालय में सुवह छह बजे से पहले ही पहुंचने लगीं। दोपहर तक हिंसक घटनाएं बढ़ गईं और दूर-दूर तक फैल गईं। चीफ सेक्रेटरी ने अपराह्न 2.40 बजे गवर्नर को सलाह दी कि सेना को तत्काल बुला लिया जाना चाहिए। गवर्नर सहमत भी हो गए, लेकिन सेना का इस्तेमाल नहीं किया जा सका, क्योंकि गवर्नर शहर के दौरे पर थे और उन्हें लगा कि जिस स्थिति की वे कल्पना कर रहे थे, यह उतनी खराब नहीं है।

कलकत्ता के सांप्रदायिक दंगों के पीछे सुहरावर्दी और प्रांतीय लीग का हाथ होने में कोई संदेह नहीं था। दंगे से कई दिन पहले मुख्यमंत्री सुहरावर्दी के हस्ताक्षरों वाले कूपन जारी किए गए थे, जिन्हें लगाकर लीगियों की लारियां शहर में घूमती रहीं। 16 अगस्त को लीग द्वारा प्राथमिक चिकित्सा केंद्रों तथा चिकित्सा हेतु सचल गाड़ियों का व्यापक इंतजाम किया गया था। सुहरावर्दी

के साथ शहर का दौरा करते हुए आर्मी कमांडर जनरल सर रॉय बुशर ने कहा था कि उनकी दृष्टि से सांप्रदायिक तनाव बेहद गंभीर है। रॉय बुशर ने कहा कि सेना में हिंदू और मुसलमान दोनों मिलकर खुशी से काम करते हैं। सुहरावर्दी ने जवाब दिया कि वह जल्दी ही इसका भी अंत कर देगा!

सुहरावर्दी ने डिस्ट्रिक्ट कमिश्नर को भी आदेश दिया कि वह 24 परगना जिले के पुलिस सुपरिंटेंडेट से कहकर दंगे में पकड़े गए सभी मुसलमानों को रिहा करवा दें। लेकिन अधिकारियों ने अपने दायित्व को समझते हुए सुहरावर्दी का यह आदेश नहीं माना।

कलकत्ता के दंगों के संबंध में सबसे अधिक विवाद बंगाल के गवर्नर, सर फ्रेड्रिक बरोज की भूमिका को लेकर रहा। गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1935 के अनुच्छेद 52 (1) के अंतर्गत गवर्नर का विशेष दायित्व था कि वह प्रांत में शांति भंग की संभावना को देखते हुए कार्यवाही करता और गवर्नर को अपने दायित्व के पालन के लिए स्वयं निर्णय लेना था।

सुहरावर्दी ने अधिकतर समय कंट्रोल रूम में बिताया, जिसमें अक्सर उसके सहयोगी भी साथ रहते थे। इससे पुलिस कमिश्नर के लिए स्पष्ट निर्देश देना कठिन हो गया। यह किसी मंत्री का काम नहीं होता कि वह पुलिस को आदेश दे कि उस स्थिति में उसे किस तरह काम करना है, लेकिन पुलिस कमिश्नर के लिए स्थिति इसलिए भी नाजुक बन गई कि वह कानून और व्यवस्था के लिए जिम्मेदार मंत्री को कंट्रोल रूम से बाहर नहीं कर सकता था। कंट्रोल रूम का दौरा न करने से मुख्यमंत्री को रोकने का अधिकार केवल बरोज को था, लेकिन उसने ऐसा कोई आदेश नहीं दिया।

17 अगस्त को शहर का एक और दौरा करने पर गवर्नर को लगा कि उसने सांप्रदायिक दंगे को कल कम करके आंका था। अतएव उसने तत्काल सेना को कार्यवाही करने का आदेश दिया, जो दोपहर के 3.30 बजे लागू हुआ। लेकिन 20 अगस्त से पहले दंगों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ।

सेना को तैनात करने में इतनी देरी क्यों की गई? सैन्य अधिकारियों का मानना था कि यदि सेना पहले तैनात कर दी गई होती तो दंगों को तभी रोका जा सकता था। जनरल रॉय बुशर ने अपनी रिपोर्ट में साफ लिखा कि सुहरावर्दी सरकार के किसी भी सदस्य ने दंगों को रोकने में उसकी कोई सहायता नहीं की। यद्यपि क्रिप्स ने नेहरू को पहले ही आश्वासन दे रखा था कि ऐसी

किसी भी स्थिति में संबंधित सरकार बर्खास्त कर दी जाएगी, लेकिन सुहरावर्दी की सरकार को बर्खास्त नहीं किया गया।

बरोज का यह स्वीकार करना कि उसने बंगाल में गवर्नर शासन इसलिए लागू नहीं किया, क्योंकि ऐसा करने से लीग आंदोलन शुरू कर सकती थी, जिसका सामना वह नहीं कर पाता। इससे दंगों को रोकने की प्रशासनिक क्षमता पर प्रश्न उठता है। कलकत्ता में सीधी कार्रवाई के फलस्वरूप 10,000 लोग मारे गए, लेकिन मुकदमा केवल एक पर चला। यदि सेना को बुला लिया गया होता तो दंगे रोके जा सकते थे—यही मुद्दा गवर्नर की आलोचना का कारण बना कि उसने सेना को पहले क्यों नहीं बुलाया।

ब्रिटेन के लिए सीधी कार्रवाई एक नया मसला था, जिस पर उसे विचार करना था। अंग्रेज पहले से ही यह माने बैठे थे कि कांग्रेस तो उनका विरोध करेगी ही, पर लीग दोस्ती निभाएगी। लेकिन अगस्त, 1946 में यह स्थिति नहीं रही। जिन्ना अब खुलेआम विद्रोह की धमकी देने लगे थे, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। लेकिन, जैसा कि पेथिक-लॉरेंस ने कहा था, पाकिस्तान के खोखले नारों के सिवाय उनके पास कोई रचनात्मक हल नहीं था। लेबर सरकार की समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि क्या किया जाए। स्थिति दिन पर दिन बदल रही थी, जो कोई भी नीति तय की जाती, वह सप्ताह भर के अंदर ही गलत साबित हो जाती।

वेवेल प्लान की विफलता

वेवेल लीग को अंतरिम सरकार में लाने के लिए उत्सुक थे, क्योंकि वे समझते थे कि इसके बिना सांप्रदायिक हिंसा को रोका नहीं जा सकता। लीग की हठधर्मी और कलकत्ता में लीग द्वारा हिंसा फैलाए जाने को लेकर गांधी और नेहरू समूह वाली शर्त को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। और न ही लीग की इस मांग को कांग्रेस मानने के लिए राजी हो रही थी कि अंतरिम सरकार में सभी मुस्लिम प्रतिनिधि लीग द्वारा ही मनोनीत होंगे। वेवेल के अनुसार कांग्रेस का यह रुख सहायक नहीं था, लेकिन वेवेल ने लीग के राजनीतिक तरीकों की निंदा नहीं की। उन्होंने लंदन को केवल चेताया कि 16 मई को लीग को दिए गए आश्वासन को यदि पूरा नहीं किया गया तो लीग अपने इन तरीकों को जारी रखेगी। वेवेल का मानना था कि यदि कांग्रेस समूह की शर्त को

नहीं मानती है तो ब्रिटेन को संविधान परिषद के मामले में आगे नहीं बढ़ना चाहिए। इस पर पेथिक-लॉरेंस ने उन्हें याद दिलाया कि संविधान परिषद के गठन की सार्वजनिक रूप से घोषणा की जा चुकी है, अतः ऐसा न करने पर इसे विश्वास-भंग के रूप में देखा जाएगा।

2 सितंबर को अंतरिम सरकार का उद्घाटन हुआ, जिसका स्वागत लीग ने हिंसा की धमकियों से किया। जिन्ना के सामने एकमात्र विकल्प भारत का विभाजन था, और कई मुस्लिम बहुल प्रांतों में सीधी कार्रवाई किए जाने की रिपोर्टें आने लगी थीं।

अब कांग्रेस ने थोड़ा आगे बढ़कर जिन्ना को किसी तरह मनाने की कोशिश की। 7 अक्तूबर को नेहरू ने कहा कि कांग्रेस अनुभागों (यानी हिंदू, मुस्लिम और रजवाड़ों) में शामिल हो जाएगी, जो बाद में समूहों के गठन पर विचार करेंगे। वेवेल ने नेहरू के इस वक्तव्य का स्वागत किया। वेवेल चाहते थे कि ब्रिटेन लीग को यह स्पष्ट कर दें कि कैबिनेट मिशन द्वारा 16 मई को लीग से जो वायदा किया गया था, उसे पूरा किया जाएगा। वेवेल ने एक ही पार्टी के आधार पर संविधान निर्माण के लिए आगे बढ़ने की बजाय केंद्र और प्रांतों में कांग्रेस के सहयोग से वंचित होना बेहतर समझा।

वेवेल ने भांप लिया था कि ब्रिटेन के लिए स्थिति और कठिन होती जा रही है। उसने लेबर सरकार से बराबर अनुरोध किया कि अब वापसी की योजना बनाने की जरूरत है। सांप्रदायिक हिंसा की सभी सीमाओं को पार करती बर्बरता को देखते हुए वेवेल ने 7 सितंबर, फिर 23 और 30 अक्तूबर को पुनः जोर देकर लिखा कि ब्रिटेन प्रशासनिक आधार पर अट्ठारह महीने से ज्यादा राज नहीं चला सकता। इसलिए मार्च, 1948 तक वापसी की तैयारी कर ली जानी चाहिए। हालांकि, वेवेल ने इससे काफी पहले, जनवरी, 1947 में ही, इस संभावना को देख लिया था। ब्रिटिश राज के प्रति सेना और प्रशासनिक सेवाओं में भारतीयों की निष्ठा की अनिश्चितता को देखते हुए वेवेल के सामने प्रश्न यह था कि क्या केवल कुछ निष्ठावान अधिकारियों के भरोसे चारों तरफ फैली अराजकता को दबाया जा सकता है।

वस्तुतः, ब्रिटेन की सबसे बड़ी प्रशासकीय अक्षमता यह थी कि वह इस तरह के उपद्रवों को दबा नहीं पाया। विश्वयुद्ध के दौरान सेवाओं के बढ़ते भारतीयकरण ने वेवेल को 1943 और 1945 के बीच वॉर कैबिनेट को यह

सलाह देने के लिए प्रेरित किया था कि राजनीतिक उदारीकरण को अधिक व्यापक कर दिया जाए, जबकि, उन्होंने राज को ही समाप्त कर देने की सलाह कभी नहीं दी थी। लेकिन अगस्त, 1946 के बाद श्रमिकों में फैली अशांति के साथ गहरी होती गई राजनीतिक और सांप्रदायिक दरारों ने, ढहते हुए प्रशासकीय और सैनिक आधार में, एक नया आयाम जोड़ दिया, जिसे दिन पर दिन बढ़ती ब्रिटिश-विरोधी लहर के रूप में देखा गया। कैबिनेट अब भी यह आशा कर रही थी कि सत्ता हस्तांतरण का समझौता ब्रिटेन की शर्तों पर हो जाएगा।

ऐसे कोई संकेत नहीं मिलते कि अंग्रेज लंबे समय से स्वयं ही खुशी-खुशी भारत को छोड़ने की सोच रहे हों। ब्रिटिश राज को समाप्त करने को कोई तारीख तय करने के वेवेल के सुझाव को लेबर सरकार ने इसलिए अस्वीकार कर दिया कि उसे लग रहा था कि ऐसा करने से ब्रिटेन की अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा पर बुरा असर पड़ेगा। लेबर कैबिनेट का विचार था कि वेवेल के सुझावों को लागू करने का अर्थ वापसी ही होगा। लेकिन, यदि ब्रिटेन अपने प्रशासन को और मजबूत बनाने और अगले दस-पंद्रह वर्षों तक और राज करने के लिए ज्यादा से ज्यादा ब्रिटिश अधिकारी भर्ती करता तब भी वह जन विद्रोह पर काबू नहीं पा सकता था। लेबर सरकार के मंत्री पलायन को टालना चाहते थे, और वे वेवेल की इस निराशावादी सोच से सहमत नहीं थे कि अंग्रेजों को हर हाल में जल्दी ही, भारत छोड़ना ही पड़ेगा।

हिंसा और बढ़ी

इस बीच वेवेल ने अंतरिम सरकार में शामिल होने के लिए लीग को मना ही लिया। लीग ने कांग्रेस कोटे में एक राष्ट्रवादी मुस्लिम के शामिल होने पर अपने एक अनुसूचित जाति के सदस्य को मनोनीत कर दिया और जिन्ना ने 13 अक्तूबर को वेवेल को बता दिया कि लीग अंतरिम सरकार में सम्मिलित हो जाएगी।

यह जानना कठिन है कि लीग अंतरिम सरकार में क्यों सम्मिलित हुई, जबकि उसने कांग्रेस पर अपने हमले और अनेक प्रांतों में अपने नेशनल गार्डों को गठित करना जारी रखा। उसने सांप्रदायिक तनाव को कम करने में अपनी कोई रुचि नहीं दिखाई। दरअसल, लीग के नेता जानते थे कि वे विरोध की

अपनी नीति और सांप्रदायिक प्रचार से ही अपनी लोकप्रियता को बनाए रख सकते हैं।

इस तरह लीग के अंतरिम सरकार में शामिल होने पर भी सांप्रदायिक तनाव में कोई कमी नहीं आई। उधर ब्रिटिश मंत्रिमंडल यह विचार करता रहा कि अब क्या किया जाए, तभी इधर नोआखाली और तिपरिया में सांप्रदायिक दंगे भड़क उठे, जिनमें हत्याएं, बलात्कार, धर्म परिवर्तन और जबरन शादियां तक की गईं और इन सबके पीछे संगठन का हाथ था, जिसके प्रमाण भी थे।

बंगाल सरकार की कार्य विधि यहां भर्त्सना की जाने लायक थी। 12 अक्तूबर को जब दंगा भड़का तब गवर्नर बरोज छुट्टी पर था, और लीग सरकार ने पुलिस पर दबाव डाला कि दंगों से जुड़े सभी आपराधिक मामले वापस ले लिए जाएं। इनमें दंगा, आगजनी, डकैती और बलात्कार जैसे गंभीर अपराध शामिल थे। जिलाधिकारियों को व्यापक नीति तथा शरणार्थियों को राहत देने के मामलों में अंधेरे में रखा गया।

लीग के केंद्रीय नेतृत्व ने इन दंगों की भर्त्सना नहीं की, जबकि इन दंगों में लीग के नेशनल गार्ड्स के शामिल होने का भी सवाल था और नेशनल गार्ड्स पर लीग के केंद्रीय नेतृत्व का नियंत्रण था, इसलिए लीग के केंद्रीय नेतृत्व पर भी सवाल था। 1 अक्तूबर, 1946 को मुस्लिम लीग नेशनल गार्ड्स का पुनर्गठन इस तरह किया गया था, जिन पर प्रांतीय नहीं, बल्कि केंद्रीय नेतृत्व का नियंत्रण था। पूर्वी बंगाल में नेशनल गार्ड्स ने जो किया, क्या वह अपने आप किया या फिर उसने केंद्रीय नेतृत्व—सेंट्रल कमेटी ऑफ एक्शन के आदेशों को क्रियान्वित करते हुए किया—यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहा।

इस बीच हिंदू बहुल बिहार और संयुक्त प्रांत में ऐसे भीषण सांप्रदायिक दंगे भड़के जैसे ब्रिटिश राज में कभी नहीं देखे गए। पूर्वी बंगाल में हुई सांप्रदायिक हिंसा तथा कलकत्ता में लीग की सीधी कार्रवाई दिवस पर हुई हिंसा के प्रतिक्रियास्वरूप कुछ हिंदुओं ने मुसलमानों पर हिंसक हमले किए। गांधी जी का यह कहना न्यायोचित ही था कि बंगाल ने तो किया ही, बिहार ने भी भारत के नाम को कलंकित कर दिया। वैसे, बिहार और संयुक्त प्रांत में हुए दंगों के पीछे किसी दल का हाथ नहीं पाया गया। बिहार की कांग्रेस सरकार ने दंगों को रोकने की त्वरित कार्यवाही की। गांधी और नेहरू ने भी दंगों के रोकने में अपने प्रभाव का इस्तेमाल किया, जिसके लिए उन्होंने वेवेल की प्रशंसा

भी अर्जित की। इस पर भी जिन्ना अड़े ही रहे कि अगर लीग और कांग्रेस विभाजन के लिए सहमत नहीं हुई तो हिंसा और भी बढ़ सकती है। जिन्ना की यह प्रतिक्रिया यही बताती है कि उन्हें संयुक्त स्वतंत्र भारत में कोई रुचि नहीं थी।

बिहार सरकार की सख्त कार्यवाही के बावजूद जून, 1947 तक सबसे अधिक हत्याएं हुईं। इसमें अनुमानतः 20,000 मुसलमानों की जानें गईं। इससे दंगों को लेकर बंगाल और बिहार दोनों की प्रशासन क्षमताओं का पता लगता है। वेवेल का मानना था कि जिला प्रशासन के पास पहले से ही काफी सूचनाएं थीं, जिनके रहते उन्हें सतर्क रहना चाहिए था। लेकिन जब दंगे फूट ही पड़े, तब उन्हें रोकने के उपाय कारगर नहीं रहे।

प्रशासनिक समस्या का एक और पहलू था। बिहार की जनसंख्या 4 करोड़ थी लेकिन उसका बजट सिंध के बराबर ही था, जबकि सिंध की आबादी मात्र 40.5 लाख थी। सिंध से दस गुनी आबादी वाले बिहार में सिंध से 50 प्रतिशत ही अधिक पुलिसकर्मी थे, जो बहुत कम थे। बिहार, बंगाल, असम और उड़ीसा, जिनकी आबादी दस करोड़ से अधिक थी, में तैनाती के लिए आंतरिक सुरक्षा बल की केवल तीन बटालियनें थीं, और वे कलकत्ता में थीं। दंगा प्रभावित कुछ क्षेत्र अगम्य थे, जहां पहुंचने के लिए सड़कें ही नहीं थीं; दूसरे, कभी-कभी अधिकारी अपने से उच्च अधिकारियों को जल्दी से सूचनाएं भेजने में असफल रहे, कुछ अधिकारी सांप्रदायिक रुझान वाले भी थे। दंगों पर काबू पाने के लिए पुलिस और सुरक्षा बलों की संख्या भी नहीं बढ़ाई गई थी।

प्रशासन, जो अपर्याप्त होने के साथ-साथ किसी हद तक अविश्वसनीय भी था, सेना की मदद के बिना सांप्रदायिक दंगों को दबाने में असमर्थ था। यद्यपि, प्रशासन ध्वस्त नहीं हुआ है, लेकिन कमजोर हो चुका है—इस बात की जानकारी के फैलाने से और साथ ही दोनों समुदायों की बर्बर कार्यवाहियों की खबरों के बढ़-चढ़कर फैलने से सांप्रदायिक हिंसा ने और तेजी पकड़ ली। इस तरह सन् 1946 के अंत तक विभाजन अपरिहार्य दिखाई देने लगा था और इस धारणा को यद्यपि संवैधानिक मोर्चे पर चल रही गतिविधियों से बल मिल रहा था, फिर भी कांग्रेस और ब्रिटेन दोनों ही यह आशा लगाए बैठे थे कि इसे अब भी रोका जा सकता है।

10

विभाजन की पूर्व-पीठिका : नवंबर, 1946 से फरवरी, 1947 तक

अंतरिम सरकार की विफलता

नवंबर, 1946 और फरवरी, 1947 के बीच अंतरिम सरकार के प्रति मुस्लिम लीग का रुख, पंजाब में यूनियनिस्ट सरकार को बलात उखाड़ फेंकने का प्रयास, संविधान परिषद में प्रवेश करने से इनकार तथा कैबिनेट मिशन की 16 मई, 1946 की योजना को स्वीकार न करना—यह सब पाकिस्तान को प्राप्त करने के लिए ही किया गया। इन्हीं महीनों में यह भी स्पष्ट हो गया कि संविधान परिषद के प्रति लीग को रिझाने के लिए अंग्रेज जिस तरह झुकते चले जा रहे हैं और रियायतों पर रियायतें देते जा रहे हैं तथा हिंसा भड़काने की उसकी कार्यवाहियों को बराबर नजरअंदाज कर रहे हैं, उससे लगने लगा कि लीग को उसका लक्ष्य प्राप्त हो ही जाएगा। कांग्रेस को भी जल्द से जल्द स्वतंत्रता प्राप्त करने की उम्मीद ने लीग और अंग्रेजों के सामने झुकने को मजबूर कर दिया। कांग्रेस अंतरिम सरकार में बने रहने के कारण समझौता वार्ताओं की ऐसी भूलभुलैया में फंस गई, जिसमें लगता था कि केवल जिन्ना ही जानते थे कि वे कहां जा रहे हैं। लीग और कांग्रेस के बीच मध्यस्थ बने बैठे अंग्रेजों ने जल्दी ही पुराने वायदों को ताख पर रखकर इस आशा में नए वायदे कर डाले कि भारत का विभाजन बच जाएगा। यदि नहीं, तो भी वे उम्मीद लगाए बैठे थे कि सत्ता हस्तांतरण के समझौते में उनके सैनिक और आर्थिक हित सुरक्षित रहेंगे।

लीग कभी भी नहीं चाहती थी कि अंतरिम सरकार सफल हो, क्योंकि इससे उसके पाकिस्तान का मुद्दा कमजोर पड़ जाता। लीगी अंतरिम सरकार को केवल इस आशय से गठबंधन मानते थे कि बस, इसमें दो पार्टियों के प्रतिनिधि शामिल हैं; इसे उन्होंने पूरी तौर पर गठबंधन सरकार कभी नहीं माना। जिन्ना तो उसे एक गठबंधन भी नहीं मानते थे, मात्र ऐसी सरकार मानते थे जिसमें दो समूह शामिल हैं। वस्तुतः, यह अंतरिम सरकार एक तरह से अनोखी थी, जिसमें प्रत्येक पार्टी कैबिनेट की बैठक से पूर्व अलग-अलग बैठकें करती थी और सरकार में परस्पर विरोधी दल की तरह व्यवहार करती थी। इसमें वेवेल ने भी कभी कोई आपत्ति नहीं की और ऐसा होने दिया। वेवेल स्वयं प्रत्येक पार्टी से अलग-अलग मिलते थे और लीग के व्यवहार के संबंध में कांग्रेस की शिकायतों को मात्र इस दृष्टि से देखते थे कि चूंकि लीग नेहरू को प्रधानमंत्री नहीं मानती, इसलिए लीग की शिकायतें की जा रही हैं। कांग्रेस के विपरीत, लीग चाहती थी कि वायसराय अपने विशेषाधिकार अपने पास बनाए रखे। इस प्रश्न पर दोनों पक्षों के मतभेदों से अंग्रेज भी खुश थे।

अंग्रेजों का मानना था कि प्रांतीय मामलों में, विशेषतया मुस्लिम बहुल प्रांतों में, अंतरिम सरकार के 'हस्तक्षेप' से लीग नाराज हो जाएगी और सरकार तथा संविधान परिषद में लीग के शामिल होने की संभावना कमजोर पड़ जाएगी, इसलिए अंग्रेजों ने बंगाल और बिहार के दंगों पर विचार करने की यह कहकर इजाजत नहीं दी कि वे तो प्रांतीय मामले हैं। सिंध में लीग सरकार विधान सभा में अपना बहुमत खो चुकी थी, लेकिन फिर भी उसे नवंबर, 1946 में नए चुनाव होने तक, सत्ता में बने रहने की अनुमति दे दी गई। जबकि, संवैधानिक रास्ता तो यह था कि विधान सभा में कांग्रेस पार्टी के नेता को सरकार बनाने के लिए कहा जाता, जो बहुमत प्राप्त करके सरकार बना भी सकती थी, लेकिन इस विकल्प को नहीं अपनाया गया, क्योंकि तब जिन्ना की आपत्ति होती कि मुस्लिम बहुल प्रांतों में कांग्रेस की सरकार का कोई औचित्य नहीं है। उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में नेहरू, जिनके पास कबायली विभाग भी था, के दौरे के समय मुस्लिम लीग ने विरोध प्रदर्शन किए। वहां के गवर्नर सर ओलाफ कैरो ने लीग को ऐसा करने से रोकने का कोई प्रयास नहीं किया और वह इस आधार पर कि यदि ऐसा किया गया तो उपद्रव भड़क उठेंगे।

इस तरह कांग्रेस के लिए लीग के साथ काम करना मुश्किल हो गया।

प्रांतीय मामलों में अंतरिम सरकार को 'हस्तक्षेप' करने से रोकने के लिए संवैधानिक पाबंदियां थीं, जिनको लागू करने के लिए वेवेल तत्पर रहते थे, और उधर बंगाल में सांप्रदायिक हिंसा तेजी से बढ़ रही थी, ऐसी परिस्थिति में कांग्रेस अपनी स्थिति से दुखी और हताश थी। ऐसे में नेहरू का यह सोचना उचित ही था कि जब कांग्रेस सांप्रदायिक दंगों को रोकने के लिए कुछ कर ही नहीं सकती तब अंतरिम सरकार में उसके बने रहने का मतलब ही क्या है।

संविधान परिषद से लीग बाहर रही

लीग को फुसलाकर संविधान परिषद में लाने के उद्देश्य से लेबर सरकार ने दिसंबर, 1946 में कांग्रेस, मुस्लिम लीग और सिखों के प्रतिनिधियों को नए सिरे से विचार-विमर्श करने के लिए लंदन आमंत्रित किया। इसी समय 6 दिसंबर को एक नए वक्तव्य द्वारा अंग्रेजों ने स्पष्टीकरण दिया कि समूह बनाने के संबंध में कैबिनेट मिशन योजना की धाराओं की व्याख्या इस तरह की जाए, जो लीग को संतुष्ट रखे अर्थात, समूह बनाने का निर्णय प्रांतों में साधारण बहुमत के आधार पर किया जा सकता है। 16 मई को लीग को दिए गए आश्वासन के बारे में यह पहली बार था जबकि कांग्रेस को बताया गया। कांग्रेस ने इस बारे में इतने लंबे समय तक अंधेरे में रखे जाने के लिए अपना विरोध जताया। ब्रिटेन ने कांग्रेस से अनुरोध किया कि वह 6 दिसंबर के वक्तव्य को स्वीकार कर ले ताकि मुस्लिम लीग संविधान परिषद में शामिल होने के संबंध में पुनर्विचार कर सके।

एक बार फिर जिन्ना के इरादों को समझने में ब्रिटेन ने गलती की। 6 दिसंबर का वक्तव्य तो लीग को संविधान परिषद से बाहर रहने के लिए ही उकसाने वाला था। जिन्ना ने देखा कि पाकिस्तान तो उन्हें अंग्रेजों द्वारा भेंट किया ही जा रहा है, फिर भी उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि ब्रिटेन यह आश्वासन दे कि संविधान निर्माण का कार्य उसी तरीके से होगा, जिसकी सिफारिश कैबिनेट मिशन ने 16 मई को की थी और उन आश्वासनों को ब्रिटेन अनिवार्य रूप से लागू करे। इसका मतलब यह हुआ कि ब्रिटेन अपनी देखरेख में पाकिस्तान बनवाए। लेकिन ब्रिटेन पाकिस्तान बनवाने का उत्तरदायित्व स्वयं नहीं लेना चाहता था। इसलिए ब्रिटेन ने जिन्ना की बात नहीं मानी और लीग संविधान परिषद में शामिल नहीं हुई।

लीग के बिना ही संविधान परिषद 9 दिसंबर, 1946 को आरंभ हो गई। इसके विरोध में कोई सांप्रदायिक हिंसा नहीं हुई। संविधान परिषद में शामिल होने से लीग के इनकार करने का मतलब अंग्रेजों ने यह लगाया कि लीग पाकिस्तान की अपनी मांग को नहीं छोड़ेगी। लेबर सरकार भारत से विदा होने के वारे में वैसा ही वक्तव्य जारी करने की सोच रही थी, जिसकी सिफारिश वेवेल ने साल के शुरू में की थी। लेकिन लेबर सरकार वायसराय की तरह पराजित हुई सी नहीं दिखना चाहती थी। इसके विपरीत वह इस श्रेय को लेने का दावा भी करना चाहती थी कि उसने भारत में ब्रिटिश राज समाप्त कर दिया है और अपनी जिम्मेदारियां भारतीय जनता के प्रतिनिधियों को सौंप दी हैं।

पंजाब में सीधी कार्रवाई

लीग के इरादे अब पंजाब में वहुत साफ दिखाई देने लगे थे। पंजाब में सांप्रदायिक स्थिति अक्तूबर, 1946 से ही खराब होने लगी थी। खिजर ने 24 जनवरी, 1947 को नए गवर्नर सर इवेन जेनकिंस की अनुमति से एक अध्यादेश जारी करके राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और नेशनल गार्ड्स पर प्रतिबंध लगा दिया। जिन्ना ने इस प्रतिबंध और लीगियों की गिरफ्तारियों पर विस्मय व्यक्त किया। मुस्लिम लीग ने इस प्रतिबंध को उत्तेजनात्मक कार्यवाही बताकर इसकी कड़ी निंदा की तथा पंजाब भर में विरोध प्रदर्शन किए। यह प्रतिवंध तो 27 जनवरी को वापस ले लिया गया, लेकिन यूनियनिस्ट सरकार के विरुद्ध हड़तालें, जनसभाएं, जुलूस और विरोध प्रदर्शन जारी रहे। जिन्ना ने इस आंदोलन को अपना समर्थन दिया तथा यह आशा व्यक्त की कि लीग के इस शक्ति प्रदर्शन के परिणामस्वरूप पंजाब सरकार गिर जाएगी। गवर्नर के विचार से लीग की मुख्य शिकायत यह थी कि वह सन् 1946 के प्रांतीय चुनाव में वहुमत वोट प्राप्त करने के बावजूद अपनी सरकार नहीं वना सकी थी।

पंजाव में प्रदर्शनों के लिए वेवेल ने लीग से कुछ भी नहीं कहा। अंग्रेज समझ नहीं पा रहे थे कि अब क्या किया जाए। मिशन योजना के अनुपालन का मतलव अंतरिम सरकार से मुस्लिम लीग को निकाल देने की कांग्रेस की मांग को मौन सहमति देना होता। लेकिन तव ब्रिटेन पर लीग के विरुद्ध कांग्रेस का साथ देने का आरोप लग जाता और यह ब्रिटेन के लिए एक असुविधाजनक स्थिति होती। संविधान परिषद, जिसमें केवल कांग्रेस थी, की वैधता को पहले

स्वीकार कर लेने के बाद कैबिनेट को अब लग रहा था कि लीग के बिना मिशन योजना को पूरी तरह लागू नहीं किया जा रहा है। तथापि, संविधान परिषद को पूरी तरह नकार देने को भी कोई व्यावहारिक राजनीति नहीं माना जा सकता, क्योंकि इससे कांग्रेस शायद, फिर से नागरिक अवज्ञा आंदोलन आरंभ कर दे, जिससे ब्रिटेन संघर्ष की उस स्थिति में आ जाए, जिसे वह एक वर्ष से टाल रहा था।

ब्रिटेन द्वारा वापसी की घोषणा : 20 फरवरी, 1947 का वक्तव्य

मिशन की योजना और अंग्रेजों, उन दोनों के विरुद्ध लीग के सक्रिय रहने के कारण राजनैतिक गतिरोध का खतरा मंडराने लगा था। अब परिस्थिति की वास्तविकता से भारतीय पार्टियों को परिचित कराने के लिए ब्रिटेन के पास एक ही अंतिम उपाय शेष रह गया और कैबिनेट ने 5 फरवरी को अंग्रेजों द्वारा भारत से वापसी के बारे में वक्तव्य जारी करने का निर्णय किया। उन्होंने यह भी निर्णय किया कि निराशावादी वेवेल जैसे गलत व्यक्ति को दिल्ली में रखना ठीक नहीं होगा, अतः उसकी जगह दूरदर्शी लॉर्ड माउंटबेटन को वायसराय बनाकर भेजा जाए, जो मार्च, 1947 में यहां आ गए।

माउंटबेटन को जैसे ही पता चला तो उन्होंने वेवेल के दृष्टिकोण से सहमति जताई और 11 फरवरी को अपनी नियुक्ति पर ऐटली से बातें करते हुए इस बात पर जोर दिया कि ब्रिटेन भारत से अपनी वापसी की तारीख निश्चित कर दे। ऐटली ने दो दिन बाद अपनी कैबिनेट को बताया कि वे इस बात से सहमत हैं कि भारत छोड़ने की कोई समय-सीमा निर्धारित किए बिना कोई भी घोषणा सफल नहीं होगी। लेबर सरकार ने वेवेल को उसकी सलाह के लिए उसे बर्खास्त करते हुए भी उसकी सलाह को माना, और मांउटबेटन से अपेक्षा की कि वे उसकी सलाह को कार्यान्वित करेंगे।

ब्रिटेन ने 20 फरवरी, 1947 को पहली बार सत्ता हस्तांतरण की तारीख घोषित की जो 30 जून, 1948 थी। इस वक्तव्य में यह आशा व्यक्त की गई कि भारतीय पार्टियां उस समय तक कोई संविधान तैयार कर लेंगी। यदि ऐसा न हो सका तो ब्रिटिश सरकार यह विचार करेगी कि केंद्रीय सरकार की सत्ता किसे सौंपी जाए; किसी नई केंद्रीय सरकार को; या कुछ क्षेत्रों में मौजूदा प्रांतीय सरकारों को; या फिर किसी अन्य तरीके से, जो भारतीय जनता के हित में उपयुक्त प्रतीत हो।

चूंकि, राजनीतिक विफलता सिर पर मंडरा रही थी, इसलिए 20 फरवरी, 1947 के इस वक्तव्य ने ब्रिटेन के लिए भारत से वापसी की रणनीति तैयार कर ली। वेवेल और ब्रिटिश कैबिनेट 24 मार्च, 1947 को इस बात पर सहमत थे कि ऐसा कुछ भी न कहा जाए कि ब्रिटेन के पास भारतीय पार्टियों को स्वयं सत्ता हथियाने से रोकने के लिए कुछ भी करने को नहीं है; और जून, 1948 के बाद अंग्रेज भारत में नहीं रुकेंगे। इससे ब्रिटेन, यदि सांप्रदायिक हिंसा भड़कती है और उसके परिणामस्वरूप कानून और व्यवस्था ध्वस्त हो जाती है, तो इसकी जिम्मेदारी से बचा रहेगा। अंग्रेजों के लिए गंभीरतम संकट ब्रिटेन-विरोधी आंदोलन से हो सकता था, जिसमें ब्रिटेन के नागरिकों के मारे जाने का डर था, और फिर अपनी सुविधा से स्वतः भारत छोड़ने के बजाय मार भगाए जाने का डर था। वस्तुतः ब्रिटेन ऐसी किसी भी स्थिति से बचना चाहता था जो उसके नियंत्रण से बाहर चली जाए।

मुस्लिम लीग को संविधान परिषद में शामिल करने का एक और प्रयत्न 20 फरवरी, 1947 के वक्तव्य से किया गया जो स्पष्टतया विफल रहा। लीग ने विद्यमान संविधान परिषद को मृत बताते हुए दो संप्रभु राज्यों को सत्ता हस्तांतरित करने की मांग की। पंजाब में लीग ने नई सीधी कार्रवाई आरंभ कर दी, जिसमें सार्वजनिक इमारतों से कांग्रेस और ब्रिटिश झंडे जबर्दस्ती उतारे जाने लगे, ट्रेनों को रोका जाने लगा तथा मारकाट की जाने लगी। हिंसा रोकने के उद्देश्य से खिजर ने प्रांतीय लीग से एक समझौता करने का प्रयास किया, जिसकी शर्तें बहुत कुछ जिन्ना द्वारा तय की गईं। इनमें मुस्लिम लीग नेशनल गार्ड्स जैसी निजी सेनाओं को बनाए रखना शामिल था, लेकिन हथियार लेकर चलना तथा वर्दी पहनने पर पाबंदी को मान लिया गया।

लीग ने उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत, असम और बंगाल में भी सीधी कार्रवाई आरंभ कर दी। पंजाब में उसने पाकिस्तान के बारे में हिंदू और सिखों के भय को दूर करने का कोई प्रयास नहीं किया, क्योंकि संभवतः वह बल प्रयोग करने की सोच रही थी। 20 फरवरी, 1947 के वक्तव्य में लीग को केंद्र और प्रांतों में, किसी पार्टी से समझौता करने के लिए प्रेरित नहीं किया गया। लीग समझती थी कि यदि वह इन प्रांतों पर बलात कब्जा कर लेती है, तब तो उसे पाकिस्तान बनाने का अधिकार ही मिल जाएगा। पेथिक-लॉरेंस को आशा थी कि यदि मुस्लिम लीग को पंजाब में सत्ता प्राप्त हो जाती है तो संभवतः वह सिखों के

डर को दूर कर देगी। दरअसल, अंग्रेज हमेशा से ही लीग की हठधर्मी की अनदेखी करते रहे थे, और वह आंशिक रूप से इसलिए कि वे अनेक मुद्दों पर कांग्रेस और लीग के मतभेदों को अपने हित में भुनाने के लिए उनका स्वागत करते रहे थे, क्योंकि उन्होंने यह धारणा पाल रखी थी कि कांग्रेस हर किसी पर अपना अधिपत्य जमाए रहना चाहती है; जबकि जिन्ना केवल मुसलमानों के लिए न्याय चाहते हैं; इसलिए वह केवल एक पार्टी को सत्ता हस्तांतरित नहीं कर सकते; और आंशिक रूप से यह उनके हित में भी रहेगा कि वे अविभाजित भारत को ही सत्ता हस्तांतरित करें। भारत में अंग्रेजी राज की अंतिम तारीख निर्धारित करने संबंधी 20 फरवरी के वक्तव्य ने कांग्रेस और लीग के वीच समझौता कराना तो दूर, लीग को इस बात का संकेत दे दिया कि वह हिंसा द्वारा अपने लिए पाकिस्तान हासिल कर ले।

11

विभाजित करो और जाओ

खिजर से समझौता होने के बाद लीग ने 2 मार्च को 'विजय दिवस' मनाया। और उसी दिन खिजर ने अपनी सरकार के इस्तीफे की घोषणा कर दी, क्योंकि वे समझते थे कि 20 फरवरी के वक्तव्य ने केंद्रीय और प्रांतीय प्रशासन के क्षेत्र में सीमाएं मिटा दी हैं। इस तरह खिजर ने यह उचित समझा कि अब उसे लीग के लिए मैदान खुला छोड़ देना चाहिए, जिससे वह अन्य पार्टियों से जैसा चाहे वैसा समझौता कर ले। पंजाब की सांप्रदायिक सुरक्षा के लिए ऐसे गठबंधन की अत्यधिक आवश्यकता थी जिसमें मुस्लिम लीग भी शामिल हो, लेकिन लीगी नेता प्रांत के अल्पसंख्यकों से तब तक वार्ता के लिए तैयार नहीं थे, जब तक एक ओर लीगियों और दूसरी ओर हिंदुओं तथा सिखों के बीच यूनियनिस्ट मध्यस्थ बने बैठे थे। खिजर का इस्तीफा इस बात का सूचक था कि लीग ने अंतर-सांप्रदायिक प्रांतीयता के सबसे बड़े किलों में से एक को जीत लिया है और केंद्र में अपनी राजनीतिक शक्ति बढ़ा ली है।

खिजर के इस्तीफे ने उसके गैर-मुस्लिम साथियों को हतप्रभ कर दिया। उन्होंने घोषणा कर दी कि वे मुस्लिम लीग की सरकार के साथ सहयोग नहीं करेंगे। उनका यह रुख तर्कसंगत भी था क्योंकि, लीग ने अल्पसंख्यकों को कभी भी इस बात का संकेत तक नहीं दिया कि पाकिस्तान में उनका क्या स्थान होगा या लीग के साथ सहयोग करने के बदले में उन्हें क्या मिलेगा। एक चुनी हुई सरकार को बलात उखाड़कर लीग ने एक निकृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया था। 20 फरवरी की घोषणा के बाद लीग ने हर तरह से यह संकेत दिया था कि किसी भी तरह से वह पंजाब को हथिया लेगी।

इस बीच प्रांतीय मुस्लिम लीग नेता नवाब ममदोत लीग की सरकार बनाने में अक्षम रहे। गवर्नर सर इवेन जेंकिंस भी लीग को सत्ता सौंपने के इच्छुक नहीं थे, क्योंकि ममदोत, एक तो यह सिद्ध नहीं कर पाए कि विधानमंडल में उन्हें पर्याप्त समर्थन मिल जाएगा; दूसरे, पंजाब के अनेक जिलों से रिपोर्टें आ रही थीं कि मुस्लिम लीगियों के नाम पर गैर-मुस्लिमों पर हमले किए जा रहे हैं। रावलपिंडी डिवीजन और मुल्तान जिले में इतने व्यापक स्तर पर दंगे हो रहे थे जितने ब्रिटिश भारत में पहले कभी नहीं देखे गए। ये दंगे एक योजनाबद्ध ढंग से कराए जा रहे थे जिनका उद्देश्य हिंदू और सिख आबादी को निकाल बाहर करना था। कांग्रेस तथा ब्रिटिश पर्यवेक्षकों, जिनमें ऐटली के एक घनिष्ठ मित्र भी सम्मिलित थे, ने देखा था कि दंगों को रोकने के लिए पुलिस ने कोई कार्यवाही नहीं की, वह मूकदर्शक बनी खड़ी रही।

जिन्ना और लियाकत अली खां ने अधिकारियों पर आरोप लगाया कि व्यवस्था बनाए रखने की कोशिश करने वाले मुसलमानों पर वे जुल्म ढा रहे हैं। आरोप लगाकर प्रांतीय मुस्लिम लीगी आत्मतुष्ट हो बैठे थे। लेकिन इस पर जेंकिंस नाराज हो गए और उन्होंने कड़ाई के साथ उन्हें बता दिया कि उनके नाम पर गैर-मुस्लिमों का बर्बर कत्लेआम किया जा रहा है। इसलिए वे उन्हें सरकार बनाने की अनुमति नहीं देंगे, विशेषकर जबकि ममदोत सरकार बनाने में असमर्थ रहे हैं। जेंकिंस मुस्लिम लीग नेशनल गार्ड्स जो केंद्रीय नेतृत्व के अंतर्गत काम कर रहे थे, को मुख्य अपराधी मानते थे।

यदि जेंकिंस सही थे तो सवाल यह उठता है कि लीग किस काम को पूरा करना चाहती थी। शुरुआती दंगों का लक्ष्य तो खिजर मंत्रिमंडल को उखाड़ना था। इसके लिए लीग ने यह जरूर सोचा होगा कि वह इस काम को पूरा कर लेगी और सरकार बनाने में सफल हो जाएगी। संभवतः लीग 20 फरवरी के वक्तव्य की शर्तों के अधीन जून, 1948 के पूर्व पूरे पंजाब पर कब्जा करना चाहती थी और उसका विश्वास था कि वह पूरे प्रांत पर बलपूर्वक कब्जा कर लेगी। जेंकिंस ने ब्रिटिश सरकार को बताया कि मुसलमान जो लीग के नाम पर मारकाट कर रहे हैं वही हमलावर हैं। उन्हें विश्वास था कि इस सुनियोजित हिंसा, जो 3 जून, 1947 के बाद भी जारी रही, का एक उद्देश्य उनके प्रशासन को बदनाम करना था।

पंजाब में जिन्ना अब भी लीग का मंत्रिमंडल बनाने पर जोर दे रहे थे।

लेकिन जेंकिंस ने दृढ़तापूर्वक कह दिया था कि कोई भी सांप्रदायिक मंत्रिमंडल, चाहे वह मुसलमानों का हो या गैर-मुसलमानों का, पंजाब में सफल नहीं हो सकता। आबादी के एक बहुत बड़े वर्ग को संसदीय बहुसंख्या मानने से इनकार कर दिया है, यह एक क्रांतिकारी स्थिति है अतः सामान्य अर्थों में एक संवैधानिक सरकार बनना असंभव है। लीग ने सिखों को आश्वस्त करने का कोई प्रयास नहीं किया क्योंकि, लीगियों का तो रुख यह था कि पूरे पंजाव पर शासन करने के वही अधिकारी हैं।

सांप्रदायिक हिंसा ने कानून और व्यवस्था को बनाए रखने में ब्रिटिश राज की नपुंसकता को उजागर कर दिया। उनकी प्रशासनिक क्षमता का पतन तो जनवरी और फरवरी, 1947 में लीग के आंदोलन के दौरान ही देखने को मिल गया था, जब जुलूसों और सभाओं पर लगे प्रतिबंध को लीगियों ने तोड़ना शुरू कर दिया था और उनके विरुद्ध प्रशासन ने कोई कार्यवाही नहीं की थी। ब्रिटिश अधिकारी अपने भविष्य के वारे में स्वयं चिंतित थे। उनके पास जब कोई सहायता के लिए आता था तो वे उसको अपने भावी शासकों· लीगियों और कांग्रेसियों के पास जाने की सलाह देते। पुलिस भी सांप्रदायिकता से प्रभावित हो चुकी थी, और यह केवल इससे उजागर नहीं होता था कि मुस्लिम अधिकारी मुस्लिम दंगाइयों के खिलाफ कोई भी कार्यवाही नहीं कर रहे थे, बल्कि इससे भी स्पष्ट था कि अमृतसर में जिन पुलिसकर्मियों को भ्रष्टाचार के आरोपों में छांटा गया था, वे नौकरी से इस्तीफा देकर मुस्लिम लीग में शामिल हो गए थे। जून, 1947 तक जेंकिंस को लगने लगा था कि सरकारी अधिकारी अनिश्चय की स्थिति में पहुंच चुके हैं कि ये क्या करें और किसका आदेश मानें। क्या वे अपने संभावित नए मालिकों को खुश करें? वैसे भी, ब्रिटिश अधिकारी भारत छोड़ने को उतावले थे। पुराना प्रशासनिक तंत्र बहुत तेजी से विछिन्न हो रहा था।

मार्च, 1947 तक जितनी कठिन परिस्थितियों का सामना जेंकिंस को करना पड़ा था, उतना शायद ही किसी अन्य प्रांतीय सरकार को करना पड़ा होगा। पहले कभी-कभार ही दो स्थानों में एक साथ सांप्रदायिक दंगे हुए होंगे, तब प्रशासन अपना ध्यान और साधन उस स्थान पर केंद्रित कर और वहां सख्त कार्यवाही कर उन्हें कुचल देता था।

लेकिन, जब दंगे व्यापक हो गए तब प्रत्येक स्थान पर सेना का भेजना असंभव हो गया। फलतः परिस्थितियों के अनुसार उनसे निपटने का दायित्व

जिला अधिकारियों तथा सैन्य कमांडरों पर छोड़ दिया गया। सरकार को ग्रामीण क्षेत्रों में जहां संचार के साधन बहुत लचर थे, वहां बड़े पैमाने पर दंगों से निपटने का कोई अनुभव भी नहीं था। वहुत-से गांवों की स्थिति के बारे में तो पता ही नहीं चल सका, क्योंकि वहां या तो घोड़ों से पहुंचा जा सकता था या संकरी पगडंडियों से पैदल। ग्रामीण पुलिस थाने में प्रायः दर्जन भर पुलिस वाले हुआ करते थे, जिन्हें 100 वर्गमील में फैले, इतने ही गांवों की देख-रेख करनी होती थी। मार्च, 1947 के दौरान भड़की हिंसा को दबाने के लिए 20,000 सैनिकों को लगाया गया था। 15 अप्रैल को जेंकिंस ने माउंटबेटन से कहा कि यदि विभाजन के दंगों से निपटना है तो 60,000 सैनिक और भेजिए। लेकिन जेंकिंस से कह दिया गया कि पंजाब को और सैनिक नहीं भेजे जा सकते, क्योंकि जून में भारत से वापसी संबंधी आधिकारिक घोषणा के वाद भारत के अन्य भागों में भी दंगे के होने की संभावना थी। जेंकिंस ने नेहरू के पंजाव में मार्शल लॉ लगाने के सुझाव को भी नकार दिया। उसने नेहरू को वताया कि षड्यंत्र रचकर छिपकर वार करने वालों को दवाने में सेना सफल नहीं हुआ करती। दूसरे, मार्शल लॉ भी असफल हो सकता है जिसमें पुलिस की तरह सेना को भी सांप्रदायिक हमलों का शिकार होना पड़ सकता है।

अंग्रेज भलीभांति जान चुके थे कि इस हिंसा को रोकने की ताकत अब उनमें नहीं रही है। सितंबर, 1948 में माउंटबेटन ने पिछली घटनाओं को याद करते हुए बताया कि जहां कहीं भी तुरंत सेना भेजकर कठोरतापूर्वक हिंसा को रोकने का प्रयास नहीं किया गया, वहीं कत्लेआम की घटनाएं अधिक हुईं। पंजाब में जो सांप्रदायिक उन्माद देखा गया वैसा भारत में अन्यत्र कहीं नहीं देखा गया। यद्यपि, पंजाब सरकार ने अपनी ओर से भरसक प्रयास किया, किंतु वह सभी समुदायों के लोगों के मन से असुरक्षा की भावना को दूर नहीं कर सकी। मई, 1947 के शुरुआती दिनों से पूर्वी पंजाब में हिंदुओं ने भी मुसलमानों के विरुद्ध जवाबी कार्रवाई शुरू कर दी। लाहौर और अमृतसर जल रहे थे, 27 जून को माउंटबेटन को लगने लगा था कि ये तो जल्दी ही जलकर राख हो जाएंगे। दंगों के शिकार लोग नहीं समझ पा रहे थे कि प्रशासन की समस्या क्या है। वे बस, यही जानते थे कि सरकार उनकी रक्षा करने में असमर्थ है। इसलिए जन सामान्य ने निश्चय कि अब उन्हें भी कानून अपने हाथ में ले लेना चाहिए। ऐसी रिपोर्टें थीं कि हिंदू और सिख अपनी निजी सेनाएं संगठित

कर रहे हैं। गैर-मुस्लिमों द्वारा मुसलमानों से प्रतिशोध लेने की संभावनाओं को देखते हुए प्रांतीय लीग ने लाहौर में मुस्लिम केंद्रीय सतर्कता समिति गठित की, जिसकी उप-समितियां प्रांत भर में बनाई गईं, जिनमें अपनी कौम पर मर मिटने को तैयार 'जांबाजों' की भर्ती की गई, जिनका काम यकायक किसी जगह पर धावा बोलकर मार काट मचाना था। मई, 1947 तक यह हालत हो गई कि सभी समुदाय एक दूसरे के प्रति अधिक-से-अधिक हिंसा करने पर तुल गए। इक्के-दुक्के लोगों द्वारा अचानक छुरेबाजी, आग और बम फेंककर भाग जाने जैसी वारदातों को रोकने में पुलिस ज्यादा कुछ नहीं कर सकी। वस्तुतः, पेशावर, कलकत्ता, बंबई के आस पास और मध्य प्रांत सहित उत्तर भारत के बहुत बड़े क्षेत्र में अप्रैल के पहले सप्ताह से प्रतिदिन सांप्रदायिक झड़पों की रिपोर्टें आने लगीं। गृहयुद्ध अपरिहार्य होता दिखाई देने लगा। सत्ता हस्तांतरण से 11 दिन पहले, 4 अगस्त को जेंकिंस ने लिखा—देश के व्यापक क्षेत्र में फैले गांव-गांव में हो रहे अंतर-सांप्रदायिक दंगों को ब्रिटिश सम्राट के समस्त घुड़सवार तथा अन्य सैनिक रोक नहीं सकते, चाहें तो दंगाइयों को दंडित भले ही कर लें।

कांग्रेस अंतरिम सरकार में लीग के रवैये को देखते हुए फरवरी, 1947 में संयुक्त स्वतंत्र भारत पाने की आशा छोड़ बैठी थी। लेकिन ब्रिटेन को अब भी आशा थी कि वह लीग को विभाजन न होने देने के लिए मना लेगा। माउंटबेटन ने स्वीकार किया कि अप्रैल, 1947 तक वे पाकिस्तान के संबंध में तुरंत निर्णय घोषित करना चाहते थे ताकि, वह अपने ही कारणों से असफल हो जाए। लेकिन जिन्ना यही रट लगाते रहे कि वे कैबिनेट मिशन प्लान को स्वीकार नहीं करेंगे। जिन्ना ने माउंटबेटन को कह दिया कि ब्रिटेन को सर्जिकल ऑपरेशन करना ही होगा : भारत और इसकी सेना को दो हिस्सों में बांटना ही पड़ेगा। जिन्ना ने यह भी कहा, 'मुझे इसकी चिंता नहीं कि आप मुझे कितना कम दे रहे हैं, लेकिन आप जितना भी दे रहे हैं, वह अपने आप में पूरा हो।' माउंटबेटन इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके थे कि 'जिन्ना एक मनोरोगी हैं : दरअसल, उनसे मिलने से पूर्व तक मैं यह सोच भी नहीं सकता था कि एक व्यक्ति जो प्रशासनिक ज्ञान या उत्तरदायित्व की भावना से बिलकुल शून्य है, क्या वह इतनी सशक्त स्थिति या वर्चस्व प्राप्त कर सकता है।'

जिन्ना ने सभी सशस्त्र बलों के विभाजन पर जोर दिया। उन्होंने माउंटबेटन

से कहा कि भारत के विभाजन के साथ हिंदुस्तान और पाकिस्तान के लिए ब्रिटिश सेना का विभाजन भी जुड़ा हुआ है। लीग समूचा पंजाब और बंगाल चाहती थी, लेकिन जब माउंटबेटन ने उनसे कह दिया कि यह तो नहीं मिल सकता, तो उन्होंने इस पर जोर नहीं दिया।

कांग्रेस ने विभाजन को इसलिए स्वीकार कर लिया, क्योंकि उसने बंगाल, बिहार और पंजाब के दंगाग्रस्त इलाकों के दौरों में एक से बढ़कर एक भयानक दृश्य देखे थे। निर्दोष लोगों का कत्लेआम हुआ था; सभी धर्म शर्मसार हुए थे। कांग्रेस को विभाजन को स्वीकार करने का निर्णय इस भय से लेना पड़ा कि स्थिति और भी अधिक बिगड़ सकती थी। व्यापक रूप से फैली हिंसा को गांधी जी की अहिंसा रोक नहीं पा रही थी। पंजाब में फैली हिंसा का मुकाबला अहिंसा नहीं कर पा रही थी। कांग्रेस के लिए सांप्रदायिक हिंसा के साथ देश का विभाजन, उसके उस आंदोलन का दुखद पटाक्षेप था, जिसके लिए उसे अपनी धर्मनिरपेक्षता और अहिंसा पर गर्व था, जिसे उसने एक महनीय साध्य के लिए एक महनीय साधन के रूप में अपनाया था।

कांग्रेस ने विभाजन को इसलिए भी स्वीकार कर लिया कि यह संयुक्त भारत के पूर्वानुमान पर आधारित था क्योंकि, कांग्रेसी नेता जानते थे कि माउंटबेटन की प्राथमिकता संयुक्त भारत में है। कांग्रेस को विश्वास था कि यदि भारत राष्ट्रमंडल छोड़ देता है और पाकिस्तान उसमें शामिल हो जाता है, तो भारत नुकसान में रहेगा। इसलिए कांग्रेस अस्थायी डोमिनियन स्टेटस को भी स्वीकार करने के लिए तैयार हो गई, इसीलिए उसने माउंटवेटन को जून, 1948 तक गवर्नर-जनरल बने रहने के लिए आमंत्रित किया। अंग्रेजों को बढ़ती हुई सांप्रदायिक हिंसा को रोकने का सबसे कारगर उपाय देश का विभाजन और शीघ्रातिशीघ्र सत्ता हस्तांतरण करना ही लगा। उन्हें यह भी लगा कि अव वह हिंसा पर काबू नहीं कर पाएंगे। जैसे ही नई सरकारें शासन संभाल लेंगी, पुरानी कटुताएं धीरे-धीरे दूर हो जाएंगी।

अब विभाजन होना निश्चित हो चुका था और मई के अंत तक केवल सत्ता हस्तांतरण की तारीख का तय किया जाना बाकी था। माउंटबेटन स्वयं जल्दी-से-जल्दी सत्ता हस्तांतरण के पक्ष में थे, क्योंकि तव कांग्रेस राष्ट्रमंडल में शामिल हो सकती थी। दूसरे, भारतीय पार्टियों को भी प्रशासनिक समस्याओं को समझने का समय मिल जाएगा। इससे सांप्रदायिक हिंसा भी रुक सकती

थी और लड़खड़ाया हुआ प्रशासनिक तंत्र भी संभल सकता था।

माउंटबेटन ने अपने 3 जून के पत्र में लार्ड लिस्टोवल को, जो अप्रैल, 1947 में पेथिक-लॉरेंस के स्थान पर भारत मंत्री बने थे, लिखा कि वे 15 अगस्त, 1947 को भारत से अंग्रेजी राज को समेट लेना चाहते हैं। इस तारीख को निर्धारित करने के पीछे माउंटबेटन के मन में प्रशासनिक कारण ही सर्वोपरि थे, जैसा कि दो घटनाओं से भी स्पष्ट था। अप्रैल की शुरुआत में जेंकिंस ने सलाह दी थी कि पंजाब में सैन्य बल के प्रयोग से ही व्यवस्था बनाए रखी जा सकती है, लेकिन तब अंग्रेज अधिकारियों और सेना को 'सत्तासीन समुदाय' के लिए पंजाब पर अधिकार करना पड़ेगा और जो कोई भी प्रशासन होगा वह अनिर्वाचित होगा, तथा उसका कार्यकाल सीमित होगा, जिसका अर्थ पंजाब को अराजकता के हवाले करना होगा।

माउंटबेटन ने सत्ता हस्तांतरण के एक साल बाद लिखी अपनी 'सीक्रेट रिपोर्ट ऑफ द लास्ट वायसरायलिटी, 22 मार्च–15 अगस्त, 1947' में अपने निर्णय के मुख्य कारण के बारे में लिखा कि यह उस दौर में लिया गया जबकि अंतरिम सरकार के काम करते रहने की संभावना थी। यदि अंतरिम सरकार को एकाधं महीने और जारी रखा जाता तो जैसे कि प्रतिदिन संकेत मिल रहे थे, एक या दूसरे पक्ष को इस्तीफा देकर सरकार छोड़ने से रोकना बहुत कठिन होता। और इस तरह के इस्तीफों से जो अराजकता फैलती, वह विभाजन की समूची योजना के सफलतापूर्वक लागू किए जाने को बिगाड़ देती। अगस्त में सत्ता का हस्तांतरण विभाजन के समाधान के अंतर्निहित था।

चूंकि, विभाजन राजनीतिक तथा प्रशासनिक बाध्यता के कारण कराया गया, इसलिए अंग्रेज भारत से किसी तरह की सुरक्षा संधि नहीं कर सके और राष्ट्रमंडल की सुरक्षा व्यवस्था झमेले में पड़ गई।

अकेले लीग को ही वह मिला जो वह चाहती थी–एक संप्रभु पाकिस्तान। जिन्ना की खुशी 3 जून के वक्तव्य में छिपाए नहीं छिपती थी। अब यह सवाल उठा कि क्या माउंटबेटन अंग्रेजी राज के दोनों उत्तराधिकारी राज्यों के गवर्नर-जनरल होंगे। कांग्रेस द्वारा भारत के लिए अस्थायी डोमिनियन स्टेटस स्वीकार किए जाने से पहले लीग चाहती थी कि माउंटबेटन पाकिस्तान के भी गवर्नर-जनरल रहें। लेकिन, जैसे ही जिन्ना को पता चला कि भारत ने राष्ट्रमंडल में बने रहने का निर्णय लिया है तो वे इस सवाल पर चुप्पी साध गए। जिन्ना और कांग्रेस

दोनों ही जानते थे कि माउंटबेटन संयुक्त भारत के पक्षधर रहे हैं। यही कारण था कि कांग्रेस चाहती थी कि माउंटबेटन भारत के गवर्नर-जनरल रहें। और इसी कारण से जिन्ना ने 4 जुलाई को माउंटबेटन से कहा कि वे खुद पाकिस्तान के गवर्नर-जनरल बनना चाहते हैं। "मैं जिस स्थिति में हूं, उसमें मैं ही सलाह दूंगा और दूसरे उसके अनुसार काम करेंगे।" माउंटबेटन ने जिन्ना को बहुत समझाना चाहा लेकिन वे असफल रहे। माउंटबेटन ने समझ लिया कि जिन्ना का अपना तरीका है, जो आखिर तक बना रहता है। पाकिस्तान का गवर्नर-जनरल बनने से रोकने के लिए जिन्ना को मनाया नहीं जा सका, जिसके फलस्वरूप दो डोमिनियन राष्ट्रों के बीच एकता बने रहने की आशा भी समाप्त हो गई। इससे यही संकेत मिला कि भारत और पाकिस्तान के संबंध वैसे ही रहेंगे जैसे कि जिन्ना हमेशा से चाहते थे—यानी दो संप्रभु राष्ट्र, जिनमें संधियों के अतिरिक्त एक दूसरे के बीच किसी भी तरह का कोई संबंध नहीं होगा।

12

उपसंहार

3 जून, 1947 का वक्तव्य, जिसमें माउंटबेटन ने 15 अगस्त, 1947 की तारीख को सत्ता हस्तांतरण के लिए निश्चित किया था, उस दिन तक यानी 15 अगस्त, 1947 तक, केवल मुस्लिम बहुल प्रांतों के विधानमंडलों में वोट द्वारा और सीमा प्रांत में जनमत संग्रह द्वारा यह निर्णय होना शेष रह गया था कि भारत का विभाजन होना है या नहीं। बंगाल के विधानमंडल में गैर-मुस्लिम सदस्यों ने 21 के मुकाबले 58 वोटों से प्रांत के विभाजन तथा विद्यमान संविधान परिषद में सम्मिलित होने का निर्णय लिया। पंजाव विधानमंडल के 35 के मुकावले 106 मुस्लिम सदस्यों ने प्रांत के विभाजन के विरुद्ध वोट दिया। 3 जून के वक्तव्य के छठे पैराग्राफ में निर्धारित किया गया था कि यदि विधानमंडल का कोई भी भाग साधारण वहुमत से विभाजन के पक्ष में पाया जाता है, तो प्रांत का विभाजन होगा। इस तरह गैर-मुस्लिम विधायकों के मतों ने बंगाल का विभाजन निश्चित कर दिया। पंजाब में भी गैर-मुस्लिम विधायकों के मतों ने निश्चित किया कि प्रांत का विभाजन होना है। सिंध के विधानमंडल ने 20 के मुकाबले 30 मतों से नई संविधान परिषद में सम्मिलित होने का निर्णय लिया। प्रांतीय कांग्रेस ने उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में जनमत संग्रह का वहिष्कार किया, जिससे पाकिस्तान के पक्ष में 50.49 प्रतिशत मत गए। इस तरह कांग्रेस की वजह से वहां लीग को विजय मिली।

माउंटवेटन ने कहा कि भारत को विभाजित करने का ब्रिटेन का निर्णय भारत की जनता की इच्छा पर आधारित था, जैसाकि मुस्लिम बहुल प्रांतों के विधानमंडलों में उनके प्रतिनिधियों ने व्यक्त किया था। लेकिन जनता की इस

इच्छा की अभिव्यक्ति में क्या यह अर्थ निहित था कि हिंदुओं और मुसलमानों के सांप्रदायिक मतभेदों ने विभाजन को अपरिहार्य बना दिया? इसका उत्तर है—नहीं। हालांकि, धार्मिक अर्थों में विभेद की यह भावना भारतीय समाज में व्याप्त थी, लेकिन एक ही वर्ग या मुहल्ले के हिंदुओं और मुसलमानों में प्रायः अधिक सहभागिता पाई जाती थी अपेक्षा उन सहधर्मियों के जो समाज के अन्य भागों में रहते थे। उनमें जनजातीय, वर्गीय तथा जातीय भेदों के साथ-साथ धार्मिक अलगाव भी पाए जाते थे। प्रश्न यह है कि ये धार्मिक भावनाएं कब और कैसे राजनीतिक बन गईं कि देश का विभाजन अपरिहार्य हो गया।

इस प्रश्न का उत्तर आंशिक रूप से, मार्च, 1940 से संप्रभु पाकिस्तान की मांग के साथ मुस्लिम लीग के आविर्भाव तथा प्रांतों में मुस्लिम जन समर्थन जुटाने के उसके प्रयास; और आंशिक रूप से ब्रिटेन और कांग्रेस के दांवपेचों में पाया जा सकता है, जिसके कारण लीग को बढ़ने और उसे अपने सांप्रदायिक जन समर्थन को सुदृढ़ करने में सहायता मिली। इसके साथ ही ब्रिटिश साम्राज्य की घटती प्रतिष्ठा ने भी बहुत योग दिया, जिसके कारण लीग के धार्मिक राष्ट्रवाद के आह्वान से मुसलमानों का राजनीतिक एकीकरण संभव हो सका।

जन-धन हानि की भारी कीमत पर सत्ता हस्तांतरण से उद्विग्न अंग्रेज और भारतीयों ने इस संभावना पर बार-बार विचार-विमर्श किया है कि क्या विभाजन के बिना भारत को स्वाधीनता नहीं मिल सकती थी? 'अनावश्यक विभाजन' के मुद्दे पर दो ही मुख्य तर्क हैं। पहला, नेहरू की वैचारिक हठधर्मी और उनका अहंकार, जिसने सन् 1937 में संयुक्त प्रांत में मुस्लिम लीग से गठबंधन की संभावनाओं को नकार दिया। दूसरे, सन् 1937 के प्रांतीय चुनावों में बहुमत से जीतकर आने पर नेहरू के नेतृत्व में बनी कांग्रेस की सरकार ने लीगियों को मंत्री बनाकर उनके साथ भागीदारी करने से मना कर दिया। इसकी कड़ुवाहट से लीगियों के मन में यह बात घर कर गई कि कांग्रेस की मनमानी में वे उसका साथ नहीं दे सकेंगे और उन्होंने मार्च, 1940 में संप्रभु पाकिस्तान की मांग कर डाली।

नेहरू के आलोचकों का कहना है कि विभाजन फिर भी अपरिहार्य नहीं था। मार्च, 1946 में लेबर सरकार के कैबिनेट मिशन की योजना ने लीग और कांग्रेस को संयुक्त भारत प्राप्त करने का एक अवसर दिया था। हिंदू और मुस्लिम बहुल प्रांतों के अलग-अलग समूह एक केंद्रीय सरकार के अंतर्गत कार्य

कर सकते थे। मिशन योजना के अंतर्गत समूहों के अनुच्छेद को लीग ने स्वीकार कर लिया था, लेकिन नेहरू ने समूहों के अनुच्छेद का स्पष्टतया विरोध किया। इससे लीग को फिर लगा कि संयुक्त भारत में चाहे कोई भी सरकार बने, कांग्रेस उसमें अपना वर्चस्व बनाए रखना चाहेगी। चूंकि, नेहरू के आलोचकों में से एक कांग्रेस कार्यकारिणी समिति में उनके साथी मौलाना अबुल कलाम आजाद भी थे, नेहरू पर अवांछित विभाजन पर चली अंतहीन बहसों में निरंतर राजनीतिक गतिरोध पैदा करने का दोषारोपण किया जाता रहा।

लेकिन नेहरू की खाली-बैठे आलोचना करने का आनंद उठाना, जिन्हें गुजरे अब कोई 42 वर्ष हो गए हैं, बहुत आसान है, पर वास्तव में लीग और कांग्रेस के बीच मूल अंतर अंग्रेजी राज के प्रति उनके विचारों तथा स्वतंत्र भारत के प्रति उनके दृष्टिकोणों को लेकर था, और यह मतभिन्नता सन् 1937 तथा 1946 की राजनीतिक वार्ताओं के दौरान रेखांकित हुई तथा वह और भी अधिक गंभीर हो गई, लेकिन केवल यही कारण विभाजन के लिए उत्तरदायी नहीं था। इसके कारण कहीं अधिक जटिल थे, जिन्हें ब्रिटिश रणनीति और उनकी चालबाजियां, कांग्रेस की मुस्लिम जन समर्थन प्राप्त करने में असफलता, तथा अंग्रेजों और कांग्रेस के दांवपेंचों के 'घालमेल' में पाया जा सकता है, और इधर जिन्ना ने संप्रभु पाकिस्तान की प्राप्ति तक इनकी कमजोरियों से लाभ उठाने में अपनी योग्यता का भरपूर उपयोग किया।

सन् 1937 में हिंदू और मुसलमानों के पृथक प्रतिनिधित्व पर आधारित चुनाव प्रणाली के अंतर्गत हुए प्रांतीय चुनावों में लीग ने भारत के समस्त मुस्लिम मतों का 4.8 प्रतिशत वोट ही पाया था और वह किसी भी मुस्लिम बहुल प्रांत में सरकार नहीं बना सकी थी, क्योंकि वहां भी क्षेत्रीय पार्टियों ने बहुमत प्राप्त किया था। इससे स्पष्ट है कि लीग ने जिन मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों को चुना था, वहां भी उसे बहुत कम जन समर्थन प्राप्त हुआ।

संयुक्त प्रांत में गोविंद बल्लभ पंत के नेतृत्व में कांग्रेस और चौधरी खलीकुज्जमां के बीच गठबंधन के लिए समझौता वार्ता हुई। जिन्ना ने शुरू से ही इसका विरोध किया और अधिकतर अन्य प्रांतीय लीगी नेताओं को अपने साथ कर लिया था। नेहरू को इस समझौता वार्ता का पता बहुत बाद में चला और उन्होंने ठीक ही सोचा कि यह गठबंधन आपसी समझौते के आधार पर या मिले-जुले सामान्य कार्यक्रम के आधार पर होगा, लेकिन खलीकुज्जमां ने

साफ-साफ कह दिया कि लीग कांग्रेस की सन् 1935 के एक्ट को निरस्त करने की मांग या ऐसे किसी काम में, जिसे ब्रिटेन पसंद न करता हो, साथ नहीं देगी। इतना ही नहीं संयुक्त प्रांत लीग ने अपने इस रुख को दोहराते हुए एक प्रस्ताव भी पारित कर दिया।

जिन्ना ने अपनी तरफ से इस समझौता वार्ता का विरोध किया, क्योंकि इस गठबंधन की सफलता से वे अलग-थलग पड़ जाते जबकि वे लीग को ही मुसलमानों का एकमात्र 'वास्तविक' प्रतिनिधि होने का दावा कर रहे थे। अतः गठबंधन के लिए समझौता वार्ता की विफलता सन् 1940 में जिन्ना की संप्रभु पाकिस्तान की मांग का कारण नहीं हो सकती।

चुनावों में कांग्रेस की स्थिति मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों में लीग से भी खराब रही। कांग्रेस ने सन् 1937 में जन संपर्क कार्यक्रम आरंभ करके मुसलमानों में अपनी स्थिति सुधारने का प्रयास किया। इस कार्यक्रम की सफलता लीग को राजनीतिक रूप से खत्म कर देती, अतः जिन्ना ने कांग्रेस को सलाह दे डाली कि वह 'अपनी जनता यानी हिंदुओं तक' ही सीमित रहे। जिन्ना की यह सलाह अपने आप में कांग्रेस और लीग के बीच के मूलभूत अंतर और भारत के बारे में उनके दृष्टिकोण को दर्शाती है। कांग्रेस ने स्पष्ट तौर पर कह दिया कि वह एक सांप्रदायिक पार्टी नहीं हो सकती, और सन् 1938 में कांग्रेस ने लीग और हिंदू महासभा दोनों को ही सांप्रदायिक पार्टियां बताया। कांग्रेस की सबसे महत्वपूर्ण बात उसका धर्मनिरपेक्ष चरित्र और सभी समुदायों का प्रतिनिधित्व करने का उसका दावा था।

जिन्ना ने सन् 1937 के प्रांतीय चुनावों में मुसलमानों के वोटों का बहुमत प्राप्त करने में असफल रहने के बाद यह जान लिया कि वे एक पृथक राज्य बनाने के लिए मुस्लिम समर्थन प्राप्त करके ही राजनीतिक रूप से जीवित रह सकते हैं। अतः मार्च, 1940 के बाद उन्होंने एक संप्रभु पाकिस्तान के मंच पर मुसलमानों को इकट्ठा करने के लिए अपना पूरा जोर लगाना शुरू कर दिया। अंग्रेज भी उनकी सहायता के लिए खड़े हो लिए। अंग्रेजों को अक्तूबर, 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू होने के बाद, कांग्रेस से मुकाबला करने के लिए एक प्रतिपार्टी की जरूरत थी, इसलिए उन्होंने जिन्ना को मुसलमानों का एकमात्र नेता मान लिया जबकि, उन्हें मुसलमानों का बहुत कम जन समर्थन प्राप्त था।

दृढ़संकल्प जिन्ना ने सन् 1945-46 की सर्दियों में संपन्न हुए चुनावों में एक संप्रभु मुस्लिम राज्य—पाकिस्तान के वायदे के साथ धुआंधार प्रचार करके मुसलमानों में लीग की पकड़ को मजबूत बना दिया। उनकी यह चाल सफल रही। लीग ने इन चुनावों में 80 प्रतिशत से अधिक वोट प्राप्त किए। कांग्रेस की स्थिति मुस्लिम बहुल प्रांतों में एक बार फिर निराशाजनक रही। कांग्रेस ने मुसलमानों को अखिल भारतीय अल्पसंख्यक स्वीकार करते हुए मुस्लिम अल्पसंख्यक प्रांतों में तो 'अल्पसंख्यक विभाग' खोले थे, लेकिन मुस्लिम बहुल प्रांतों में नहीं, जहां पाकिस्तान के मुद्दे पर निर्णय होना था। यह कांग्रेस की क्षमताओं में एक मनोवैज्ञानिक अवरोध था जिसके कारण वह उन प्रांतों में मुस्लिम समर्थन जुटाने के प्रयास से पीछे रही जो पाकिस्तान के निर्माण के आधार प्रांत थे। मुस्लिम बहुल प्रांतों में अल्पसंख्यक विभाग न खोले जाने से कांग्रेस वहां अपने धर्मनिरपेक्ष कार्यक्रम नहीं चला सकी। कांग्रेस से यही चूक हो गई। फिर भी लीग इतने मतों से नहीं जीत सकी कि वह सभी मुस्लिम बहुल प्रांतों में अपनी सरकारें बना सके। उदाहरण के लिए, पंजाब में खिजर हयात खां टिवाणा के नेतृत्व में यूनियनिस्टों ने लीग को बाहर रखते हुए अपनी सरकार बनाई।

इस पृष्ठभूमि में, ब्रिटेन ने मार्च, 1946 में कांग्रेस और लीग के साथ सत्ता हस्तांतरण के लिए समझौता वार्ता शुरू की।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्त होने तक ब्रिटेन ने यह समझ लिया था कि कांग्रेस के संभावित व्यापक जन आंदोलन के सामने वह टिक नहीं पाएगा। वस्तुतः, तत्कालीन वायसराय लार्ड वेवेल ने सन् 1946 के शुरू में ही लेबर सरकार को सलाह दी थी कि ब्रिटेन को जून, 1948 तक भारत छोड़ देना चाहिए। लेकिन लेबर सरकार ने उसे पराजयवादी समझा और भारत की स्वाधीनता को सदा के लिए स्थगित कर देना चाहा। अंततः लेबर सरकार ने वेवेल से जानना चाहा कि सत्ता हस्तांतरण को क्या ब्रिटेन की उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता?

लेकिन ब्रिटेन का संयुक्त भारत को सत्ता हस्तांतरण करना उसके लिए अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं था, जबकि कांग्रेस के लिए था। ब्रिटेन पाकिस्तान बनाए जाने के इसलिए विरुद्ध था, क्योंकि उसकी इच्छा अविभाजित भारत को अपनी साम्राजी सुरक्षा व्यवस्था में बनाए रखने की थी, ताकि वह भारतीय

सेना और उसके आर्थिक साधनों का उपयोग अपने सैन्य उद्देश्यों के लिए करता रह सके। इस तरह की व्यवस्था के प्रति कांग्रेस की आपत्ति का पूर्वानुमान लगाते हुए वेवेल ने फरवरी, 1944 के आरंभ में ही सरकार को सुझाव दिया था कि सत्ता हस्तांतरण से पहले ही उसे एक संधि द्वारा ब्रिटेन के सैन्य हितों का आश्वासन अवश्य ले लेना चाहिए। ब्रिटेन के इस मंतव्य के बारे में भारतीय पार्टियों को कोई जानकारी नहीं थी कि ब्रिटेन एक सुरक्षा संधि करके अपने लिए सैन्य शक्ति को बनाए रखने की शर्त को भारत की स्वाधीनता के साथ जोड़ना चाहता है।

इसीलिए, कैबिनेट मिशन के साथ समझौता वार्ता के दौरान सभी तीनों पक्ष एक-दूसरे के विपरीत काम कर रहे थे। लीग की वार्ता विभाजन के लिए थी, कांग्रेस की वार्ता एक संयुक्त भारत की स्वतंत्रता के लिए थी, जबकि ब्रिटेन कांग्रेस और लीग के मतभेदों का लाभ उठाते हुए अपने हित के लिए भारत को अविभाजित रखते हुए, भारतीय पार्टियों से एक सैन्य संधि करा लेना चाहता था।

मिशन योजना के अंतर्गत प्रांतों के तीन समूहों की रचना के साथ एक यूनियन सरकार बननी थी जो प्रतिरक्षा और विदेश नीति के लिए उत्तरदायी होती। अंग्रेजों ने निजी वार्ताओं के दौरान मुस्लिम लीग को बता रखा था कि ये समूहों के तीनों अनुभाग अपने प्रांतों के संविधान बनाएंगे, और ब्रिटेन तभी सत्ता हस्तांतरित करेगा जब इनके संविधान मिशन योजना के अनुसार बन जाएंगे। इसका अर्थ यह था कि ब्रिटेन के संरक्षण में ही पाकिस्तान बन जाएगा।

कांग्रेस के नेताओं को इसके बिलकुल विपरीत बताया गया था कि संविधान परिषद एक संप्रभु निकाय होगा। ब्रिटेन ने कांग्रेस और लीग को कभी नहीं बताया कि उसने दोनों को परस्पर विरोधी आश्वासन दिए हैं, इसलिए दोनों अलग-अलग अवधारणाओं पर समझौता वार्ताएं कर रहे थे।

नेहरू ने अपने वक्तव्य में संविधान परिषद की संप्रभुता पर जोर दिया। नेहरू के इस वक्तव्य पर ब्रिटेन की चुप्पी को जिन्ना ने आपत्तिजनक माना। क्रिप्स और पेथिक-लॉरेंस ने 17 जुलाई, 1946 को हाउस ऑफ कामंस में यह कहकर आग में घी डाल दिया कि ब्रिटेन का लक्ष्य केवल भारतीय पार्टियों को संविधान परिषद में पहुंचाना है। लीग को लगा कि ब्रिटेन कांग्रेस के बिना आगे बढ़ने को तैयार नहीं है, और लीगियों को 16 मई को दिए गए आश्वासन

का भी कोई अर्थ नहीं है। साथ ही ब्रिटेन द्वारा उसे केंद्र में बराबरी का दर्जा देने से भी मना करने का अर्थ है कि ब्रिटेन ने 'संयुक्त' भारत के तर्क को चुपचाप मान लिया है।

कांग्रेस-लीग के मतभेदों की कहानी तो पुरानी थी ही, जिन्ना को जब लगा कि ब्रिटेन लीग को दिए गए आश्वासन के अनुरूप मिशन प्लान को लागू नहीं करेगा, और लीग को अंततः कुछ नहीं मिलेगा, तब उसने मुसलमानों को सीधी कार्रवाई करने के लिए कह दिया।

सीधी कार्रवाई और प्रशासनिक विफलता

सीधी कार्रवाई से बंगाल, बिहार और पंजाब में व्यापक स्तर पर सांप्रदायिक दंगे भड़क उठे। बिहार के गवर्नर ने कई कारणों से दंगों को दबा पाने में अपनी सरकार की अक्षमता व्यक्त की। सांप्रदायिक हिंसा से प्रभावित अनेक गांवों में पहुंचने के लिए रास्ते नहीं थे। बंगाल में हिंसा फैलाने में लीग मंत्रिमंडल का हाथ था। अगस्त, 1946 के बाद सांप्रदायिक दंगों और आगजनी में दसियों हजार लोग हताहत हुए। यह एक गंभीर स्थिति थी। छुटपुट दंगों से स्थिति इतनी खराब नहीं होती। ब्रिटेन ने अपनी प्रशासनिक असमर्थता को देखते हुए विभाजन को अपरिहार्य माना, जो आसन्न दिखाई दे रहा था।

इन परिस्थितियों में लेबर सरकार ने 20 फरवरी, 1947 को अपने निर्णय के अनुसार जून, 1948 तक भारत छोड़ने के अपने इरादे की घोषणा कर दी। लेकिन मार्च, 1947 में, माउंटबेटन के वायसराय के पद पर आने से पहले ही पंजाब में हिंसा और उग्र हो गई। माउंटबेटन ने विभाजन के विरुद्ध जिन्ना को समझाने का बहुत प्रयास किया, लेकिन वे सफल नहीं हुए। मार्च और अप्रैल, 1947 में पंजाब भर में जिस व्यापक रूप से सांप्रदायिक हिंसा फैली, उससे माउंटबेटन को लगा कि, एक ऐसे नेता के साथ, समझौते की संभावना बहुत ही कम है, जो अंग्रेजों के जाने के बाद संयुक्त भारत की बराबरी खूनी गृहयुद्ध से कर रहा है। ब्रिटेन के पास हिंसा को दबाने के लिए सैन्य बलों की कमी थी क्योंकि, पूर्व बाध्यताओं के अनुसार उनकी अधिकांश सेना यूरोप में तैनात थी, जहां से उसे भारत नहीं लाया जा सकता था।

सभी स्थितियों को समझते हुए माउंटबेटन ने लेबर सरकार को परामर्श दिया कि 15 अगस्त, 1947 को अंतिम तारीख मानकर, ब्रिटेन को भारत छोड़

देना चाहिए ताकि, ब्रिटेन उस संभावित सांप्रदायिक युद्ध में घसीटे जाने से बच सके, जिसके लिए उसे जिम्मेदार ठहराया जा सकता है, और जो अंततः ब्रिटेन के विरुद्ध भी जा सकता है। अंततः लेबर सरकार ने भारी मन से माउंटबेटन की सलाह मान ली। अब ब्रिटेन को बिना कोई शर्त लगाए तथा उत्तराधिकारी राज्यों से कोई सैन्य संधि किए बिना स्वाधीनता देनी पड़ी।

अकेले जिन्ना ही जानते थे कि उन्हें क्या चाहिए—एक संप्रभु पाकिस्तान। कांग्रेस और ब्रिटेन के बीच के मतभेद उन्हें लीग के विरुद्ध एकजुट होने से रोकते रहे। यदि ब्रिटेन और कांग्रेस मिलकर कार्य कर पाते, तो वे समझौता वार्ताओं में जिन्ना को मात दे सकते थे। लेकिन, ब्रिटेन तो कई वर्षों से जिन्ना का उपयोग अपने घोर शत्रु कांग्रेस के प्रति संतुलन बनाए रखने के लिए करता आ रहा था, वह यकायक सन् 1946-7 में पाला बदलकर, जिन्ना के विरुद्ध कांग्रेस का साथ नहीं दे सकता था। यह राजनीतिक तौर पर तो संभव था, परंतु व्यावहारिक तौर पर नहीं।

ब्रिटेन को उसकी प्रशासनिक विफलता ने सुझाया कि वह विभाजन करे और अगस्त, 1947 में भारत छोड़ दे। कांग्रेस के संयुक्त और स्वतंत्र भारत के अच्छे मंतव्य को मुसलमानों का व्यापक जन-समर्थन नहीं मिला, यह मुस्लिम बहुल प्रांतों में कांग्रेस के संगठन की अक्षमता के कारण रहा, इसीलिए कांग्रेस को विभाजन स्वीकार करना पड़ा। कांग्रेस की सबसे बड़ी अक्षमता मुस्लिम मतदाताओं को जीतने में उसकी विफलता रही; यदि उसे मुसलमानों का व्यापक जन-समर्थन मिला होता तो वह मुस्लिम लीग को खदेड़कर बाहर कर सकती थी, तब बिना विभाजन के स्वाधीनता संभव हो सकती थी।

मुस्लिम बहुल प्रांतों में कांग्रेस के अक्षम संगठन ने दिखा दिया कि एक धर्मनिरपेक्ष दल की सफलता के लिए सभी समुदायों का समर्थन अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। यदि सन् 1947 में भारत ने स्वाधीनता का इतना बड़ा मूल्य चुकाया, तो उसका कारण यह रहा कि राजनीतिक और विचारधारा के आधार पर सांप्रदायिक ताकतों को परास्त नहीं किया जा सका। यदि इक्कीसवीं सदी की कांग्रेस चाहती है कि भारत को यह मूल्य चुकाना न पड़े तो उसे अपने धर्मनिरपेक्षता के आधार को सुदृढ़ करना होगा और सांप्रदायिक शक्तियों को हमेशा के लिए परास्त करना होगा।

127064
23-3-09